सर्वपल्ली राधाकृष्णन

प्रेमा नन्दकुमार

H
922.94
R 118 N

H
922.94
R118N

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य, जिसमें तीन भविष्यवक्ता बुद्ध की माँ—रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं, जिसे नीचे बैठा लिपिक लिपिबद्ध कर रहा है। भारत में लेखन-कला का सम्भवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख।

नागार्जुन कोण्डा, दूसरी सदी ई॰
सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली

भारतीय साहित्य के निर्माता

सर्वपल्ली राधाकृष्णन

मूल
प्रेमा नन्दकुमार

हिन्दी अनुवाद
जवाहरलाल द्विवेदी

साहित्य अकादेमी

Sarvapalli Radhakrishnan : Hindi translation by Jawaharlal Dwivedi of the monograph on *S. Radhakrishnan* (Philosopher and writer) by Prema Nandakumar in English, Sahitya Akademi, New Delhi (1998) Rs. 25

© साहित्य अकादेमी
पहला संस्करण : 1998

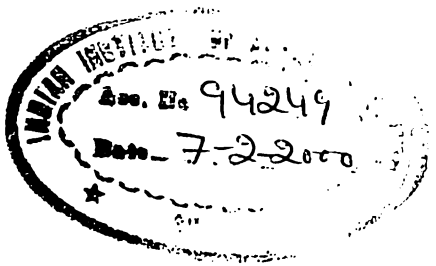

साहित्य अकादेमी

मुख्य कार्यालय
रवीन्द्र भवन, 35, फ़ीरोज़शाह मार्ग, नयी दिल्ली 110001

R118 N

विक्री केन्द्र
स्वाति, मन्दिर मार्ग, नयी दिल्ली 110001

क्षेत्रीय कार्यालय
172, मुम्बई मराठी ग्रन्थ संग्रहालय मार्ग, दादर, मुम्बई 400014
जीवनतारा बिल्डिंग, चौथा तल, 23ए/44 एक्स, डायमंड हार्बर रोड, कलकत्ता 700053
गुना बिल्डिंग, 304-305, द्वितीय तल अन्ना सलाई, तेनामपेट, चेन्नई 600 018
एडीए रंगमन्दिर, 109 जे.सी. मार्ग, बंगलौर 560 002

ISBN 81-260-0435-5

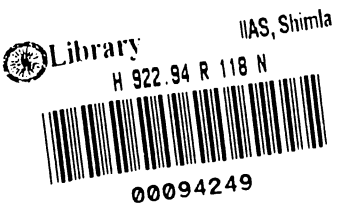

मूल्य : पच्चीस रुपये

लेज़र टाइपसेटिंग एवं मुद्रक : पवन ऑफसेट, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

प्राक्कथन

भारतीय साहित्य के निर्माताओं में सर्वपल्ली राधाकृष्णन का एक सुनिश्चित स्थान है, क्योंकि वे हमारे समय के सर्वोत्तम दार्शनिक राजनेता ही नहीं थे, वल्कि अंग्रेज़ी के सशक्त लेखक भी थे। वास्तव में, वह उनका अंग्रेज़ी भाषा का पाण्डित्य ही था जिसने उन्हें विश्व-स्तरीय व्यक्तित्व वनने में सहायता पहुँचाई। पश्चिमी श्रोताओं के समक्ष वे प्राचीन एवं समृद्ध भारतीय धर्म, दर्शन और आध्यात्मिकता का विवेचन अपने मधुर अंग्रेज़ी व्याख्यानों के सहारे प्रभावशाली ढंग से कर सकते थे। उनके व्याख्यान संस्कृत पदावली से समृद्ध और भाषाई लय से सम्पन्न होते थे।

आन्ध्र विश्वविद्यालय के वातावरण में जहाँ मैंने वर्षों अध्ययन किया, राधाकृष्णन की उपस्थिति लगातार महसूस होती थी। विश्वविद्यालय का पुस्तकालय, जिसे उन्होंने उसके प्रारम्भिक दौर में प्रोत्साहित किया था, मेरे लिए एक प्रेरणा-स्थल रहा। अतः 'भारतीय साहित्य के निर्माता' शृंखला के लिए जब उस महान व्यक्तित्व पर एक निबन्ध लिखने का आग्रह साहित्य अकादेमी ने मुझसे किया तो मुझे सुखद आश्चर्य हुआ। साहित्य अकादेमी के प्रति मैं इस बात के लिए कृतज्ञ हूँ कि उसने मुझे यह अवसर दिया ताकि मैं अपने एक राष्ट्रीय आचार्य को अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित कर सकूँ।

यद्यपि, निष्कर्ष निकालने में मेरे लिए राधाकृष्णन की कृतियाँ मुख्य आधार रही हैं, साथ ही उनके द्वारा लिखी गयी उनके पिता की जीवनी से भी मैंने बहुत लाभ प्राप्त किया है। मेरे पिता के.आर.श्रीनिवास आयंगर तथा माँ श्रीमती पद्मासनी की स्वतःस्फूर्त और आलोचनात्मक सहायता से मुझे इस पुस्तक के समग्र लेखन में लगातार मदद मिली। उन्हें मेरा कृतज्ञतापूर्ण धन्यवाद।

श्रीरंगम्
(तमिलनाडु)

–प्रेमा नन्दकुमार

अनुक्रम

1.	भारत : विश्वगुरु	9
2.	जीवन	11
3.	जीवनी-लेखक	23
4.	दर्शन के व्याख्याता	29
5.	धर्मग्रन्थों के व्याख्याता	41
6.	धर्म के व्याख्याता	53
7.	दार्शनिक	62
8.	शिक्षा शास्त्री	72
9.	राजनेता	80
10.	सार्वभौम व्यक्तित्व	85
11.	शैली ही व्यक्ति है	93
	सन्दर्भ-ग्रंथ	99

1

भारत : विश्वगुरु

भारतीय संस्कृति का एक अलिखित इतिहास है, जो कि कई हज़ार वर्षों पीछे तक फैला हुआ है। जैसा कि 2000 वर्षों का सीमित लिखित विस्तार दर्शाता है, हमारे सांस्कृतिक विकास को भारतीय स्वभाव ने सदा ही एक आध्यात्मिक शक्ति प्रदान की है। यहाँ साहित्य, धर्म, दर्शन, शासन और विज्ञान कभी भी आध्यात्मिक विचार दृष्टि से अलग नहीं रहे। विषयों के बीच कोई विभाजन नहीं था और उन्होंने सदा ही एक दूसरे को प्रभावित और प्रेरित किया। श्री अरविन्द के अनुसार ऐसा इसलिए सम्भव था, क्योंकि भारतीय विचार दृष्टि 'रूप के माध्यम से देखती है, बल के माध्यम से देखती है और वस्तुओं में सर्वत्र आत्मा की खोज करती है।'

तथापि, पिछली शताब्दी के मध्यवर्ती वर्षों के आसपास एक वास्तविक संकट आया, जिससे भारतीय संस्कृति जो कि अध्यात्म शक्ति की अनन्तता पर पली-पुसी थी, प्राचीन ग्रीक सभ्यता की तरह एक जीवावशेष मात्र रह गयी है। भारतीय जन प्रायः सभी चीज़ों के लिए पश्चिम की ओर अभिमुख हुए। उन दिनों के दासवत् अन्धानुकरण के विषय में लिखते हुए श्री अरविन्द कहते हैं :

> "आर्थिक दृष्टि से हमने महान् सफलता प्राप्त की है—अपने उद्योगों को नष्ट करने और अपने आप को ब्रिटिश व्यापारियों का दास बनाने में, नैतिक दृष्टि से हमने प्राचीन नैतिक विचारों और आदतों का विघटन कर दिया है और उनके स्थान पर एक सतही प्रतिष्ठा अर्जित कर ली है, अपने असीम, विशाल और शाश्वत दाय (विरासत) को त्यागकर यूरोपीय विचार के कुछ अवशेषों, कतरनों और कूड़ा-करकट से अपने मस्तिष्क को सँवारने में हम बौद्धिक रूप से गर्व महसूस करते हैं।"

इस आत्महन्ता सम्मोहन से भारतीयों को इससे अधिक शक्तिशाली सम्मोहन के आचार्य के द्वारा बचाया गया, जिसने उन्हें समय पर सचेत किया। स्वामी विवेकानन्द के इस परामर्श से कि 'जागो, उठो और बढ़ते रहो, जब तक कि लक्ष्य तक न पहुँच जाओ' भारत अपने पुनर्जागरण के चरमबिन्दु पर पहुँचा और इसे श्रेष्ठ व्यक्तित्वों,

जैसे राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द और श्री अरविन्द न प्रेरित किया।

कहना चाहिए कि भारत का यशस्वी अतीत सुरक्षित था। अध्ययन के लिए संस्कृत अथवा अन्य भारतीय भाषाओं को चुनना अव्यावहारिक नहीं था। इसी समय लेखकों ने प्राचीन पुराण कथाओं के पुनर्विवेचन के लिए अतीत की ओर लेखनी घुमायी। भारतीय वैज्ञानिकों ने मदद के लिए प्राचीन अन्तर्दृष्टियों में झाँका। इन सबमें चक्रवर्ती राजगोपालाचारी के कथनानुसार 'देवी सरस्वती के उपहार' में अंग्रेज़ी भाषा ने अमूल्य योगदान दिया। जैसे ही बीसवीं सदी का उषा-काल आया एक नया व्यक्तित्व या उत्साह चारों ओर फैला। भारतीयों ने अंग्रेज़ी भाषा में कम समय में ही विद्वत्ता हासिल कर ली और इसके माध्यम से उन्होंने भारतीय पुनर्जागरण को तीव्र किया। ऐसा लगा, जैसे अतीत अपनी सारी भव्यता के साथ लौट आया हो और दुनिया उसे आश्चर्य से देखती रही। ऐसे ही प्रमुख भारतीयों में, जिन्होंने इसे सम्भव बनाया, संस्कृत और दर्शन के विद्यार्थी सर्वपल्ली राधाकृष्णन भी एक थे।

2

जीवन

राधाकृष्णन के जीवन के विषय में सर्वोत्तम जानकारी उनकी पुस्तक *माई सर्च फ़ॉर ट्रुथ* (सत्य के लिए मेरी खोज) के प्रारम्भिक उद्धरण से प्राप्त की जा सकती है :

> "मेरा जन्म दक्षिण भारत में मद्रास से 40 मील उत्तर-पश्चिम में एक छोटे-से क़स्बे तिरूत्तनी में 5 सितम्बर 1888 को हुआ था। मैं एक हिन्दू माँ-बाप की दूसरी सन्तान था जिनकी सोच धार्मिक और पारम्परिक थी। जन्म और सम्पत्ति का मैंने कोई लाभ नहीं उठाया। मेरे जीवन के प्रारम्भिक 12 वर्ष तिरूत्तनी और तिरूपति में बीते और ये दोनों ही प्रसिद्ध तीर्थस्थल हैं। मैं इस बात का आकलन नहीं कर सकता कि यथासमय मुझे स्वयं (आत्म) का ज्ञान प्राप्त हुआ और घटना प्रवाह के पीछे एक अदृष्ट विश्व की वास्तविकता में मेरा दृढ़ विश्वास बना। इस अनदेखे विश्व को हम इन्द्रियों से नहीं, बल्कि मन से समझ सकते हैं, और जब भी मुझे गम्भीर कठिनाइयों का सामना करना पड़ा मेरा यह विश्वास अटल रहा है।"

राधाकृष्णन के पिता सर्वपल्ली वीरास्वामी स्थानीय ज़मींदार के कोर्ट में एक अधीनस्थ राजस्व अधिकारी थे। उन्हें एक बड़े परिवार का ख़र्च चलाना था, किन्तु फिर भी उन्होंने अपने पूरे प्रयास से राधाकृष्णन को पहले तिरूत्तनी हाईस्कूल बोर्ड और बाद में तिरूपति के हर्मेंसबर्ग इवेंजेलिकल लूथरन मिशन स्कूल में पढ़ाया। मैट्रिक पास करने के बाद राधाकृष्णन ने वेल्लोर के वोरी कॉलेज में छात्रवृत्ति सहित दाख़िला लिया और अपने विद्यार्थी काल में ही उन्होंने सिवाकामू से विवाह कर लिया।

1904 में राधाकृष्णन ने विशेष योग्यता के साथ प्रथम कला परीक्षा पास की। उन्हें मद्रास के क्रिश्चियन कॉलेज में बी. ए. करने के लिए छात्रवृत्ति प्रदान की गयी, ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी विशेष रुचि भौतिक विज्ञान में थी, किन्तु अध्ययन के लिए उन्होंने दर्शनशास्त्र इसलिए चुना क्योंकि उन्हें उनके चचेरे भाई से दर्शनशास्त्र की किताबें मुफ़्त में मिल रही थीं, जिसने उसी वर्ष बी. ए. किया था। इस तरह उन्होंने ऐसा करके काफ़ी पैसे बचाये। आश्चर्य है कि उस समय

का यह आकस्मिक चुनाव उन्हें सफलता के सर्वोच्च शिखर पर ले गया और उनके निजी दर्शन का निर्माण किया। सर्वपल्ली गोपाल कहते हैं :

> "इस तथ्य ने कि इसमें वे धकेल दिये गये थे, और इस प्रक्रिया में गहन ज्ञान तथा विश्वव्यापी ख्याति मिली, उन्हें इस बात का क़ायल बना दिया कि उनका जीवन उनकी अपनी नहीं बल्कि उस शक्ति की दस्तकारी है, जिसे प्रकृति, भाग्य, विधाता, ईश्वर या और कुछ कहा जाता है। जिस तरह उनकी सफलता फली-फूली उससे वे इस बात पर दृढ़ निश्चयी हो गए थे कि उनका जीवन किसी अदृष्ट हाथ द्वारा निर्मित हो रहा है। अधिक-से-अधिक वे इसे विभिन्न पहलुओं के साँचे में ढालने की कोशिश कर सकते हैं और वे अधिकतम मात्रा में स्वयं को, अपने निर्णयों को और अपने विवेक को अपने उसी नक्षत्र के प्रति प्रतिबद्ध मानते थे।"

मद्रास क्रिश्चियन कॉलेज में राधाकृष्णन का जीवन भाग्यशाली रहा। अंग्रेज़ी साहित्य के विख्यात शिक्षक विलियम मिलर तथा दर्शन के शिक्षक विलियम स्किनर और ए. जी. हॉग उनके प्रेरणा-स्रोत थे। ये शिक्षक (ईसाई) मिशनरियों जैसे धर्मान्ध अथवा संकीर्ण विचारों के नहीं थे। राधाकृष्णन का इनसे गहरा लगाव हो गया था। इन शिक्षकों की विशाल विद्वत्ता, विश्लेषणवादी सोच और अपने निजी धर्म के प्रति इनके निष्ठापूर्ण लगाव पर राधाकृष्णन मोहित थे। उन्हें लगा कि एक वृहत् चेतना का अंग होकर भी अपने धार्मिक दायरे में रहा जा सकता है। इस तरह हमारे भावी आचार्य का प्रारम्भिक काल अत्यन्त फलप्रद था।

सन् 1906 में राधाकृष्णन ने प्रथम श्रेणी में बी. ए. पास किया। इसके बाद उन्होंने क़ानून का अध्ययन करना चाहा लेकिन 'लॉ कॉलेज' में दाख़िला लेने के लिए उनके पास वित्तीय संसाधनों का अभाव था। उन्हें अपने माता-पिता तथा छोटे भाइयों की मदद करनी थी। अतः उन्होंने 25 रुपये प्रतिमाह की छात्रवृत्ति स्वीकार करते हुए एम.ए. में दाख़िला ले लिया। संघर्ष भरे इन वर्षों के दौरान राधाकृष्णन ने अपनी छात्रवृत्ति के पूरक स्वरूप कुछ प्राइवेट ट्यूशन भी पढ़ाये। बाह्य कठिनाइयाँ उनके आन्तरिक उद्देश्य में बाधक नहीं बन सकीं जो कि वेदान्त दर्शन की श्रेष्ठता को परिपुष्ट करने वाला था।

राधाकृष्णन में सोद्देश्यता की इस भावना का जन्म उनके विद्यार्थी-जीवन में ही हो गया था, जो कि ईसाई मिशनरी संस्थाओं में बीता। इन संस्थाओं में उन्हें बाइबिल तथा हिन्दू धर्मविषयक निन्दात्मक टिप्पणियों का सामना करना पड़ा। इन संस्थाओं में दी जा रही उच्चस्तरीय शिक्षा के प्रति राधाकृष्णन के हृदय में अत्यन्त सम्मान का भाव था, किन्तु कक्षा में किए जा रहे हिन्दू धर्म के अपवित्रीकरण

पर उन्हें गहरा दुख था। यहाँ तक कि हॉग जैसे शिक्षक भी—जिन्हें व्याख्यानों और लेखों में डॉ. गोपाल के अनुसार, 'विचार का एक सीमित अनिश्चय, एक योग्य संयम, किसी मामले के सभी पहलुओं के प्रति एक कर्तव्यनिष्ठ सम्मान तथा किसी वक्तव्य के लिए सभी विशेषताएँ सुनिश्चित करने की चिन्ता होती थी'—'*गीता*' की अपनी व्याख्याओं से वे युवा विद्यार्थियों को आहत करते थे। '*गीता*' के विषय में कहा जा रहा था कि यह जीवन की तापस (तपस्या) वृत्ति को अस्वीकार करती है। राधाकृष्णन जो स्वामी विवेकानन्द के महान् कार्य तथा वाक्पटुता से प्रभावित थे, इस पवित्र ग्रन्थ पर ऐसे निष्कर्ष स्वीकार नहीं कर सके।

उन्होंने भारी जिज्ञासु भाव से पढ़ना शुरू किया तथा अपने कम्प्यूटर—जैसे मस्तिष्क में ढेरों सूचनाएँ इकट्ठी कर लीं, जो कि बाद के वर्षों में एक अद्भुत स्मृतिकोष के रूप में प्रशंसित होने लगा। जैसे-जैसे राधाकृष्णन अपने अध्ययन में आगे बढ़ते गये, हिन्दू धर्म उन्हें एक आश्चर्यजनक सृष्टि जैसा प्रतीत होने लगा। अपने प्रतिनिधियों की पण्डिताई के कारण हिन्दू धर्म किनारे होता जा रहा था। ऐसी स्थिति में समस्त भारतीय दर्शन के सामने शैक्षिक विनाश का ख़तरा था, इसका स्थान पश्चिमी दार्शनिक लेते जा रहे थे जो कि पाश्चात्य शिक्षा के साथ भारतीय मानस में घुस आये थे। राधाकृष्णन ने अन्तर्ज्ञातरूप से यह महसूस किया कि भारतीय दर्शन काँचघर या तापगृह का कोई पौधा नहीं है जिसे मनचाहा रूप दिया जा सके और न आधुनिक विश्व की सभी कृत्रिमताएँ उन्हें अन्यथा क़ायल कर सकती थीं, जैसा कि वे कहते हैं :

> "यहाँ तक कि वे बेचारे ग़रीब अशिक्षित ग्रामीण, जो कि अपनी पारिवारिक परम्पराओं तथा धार्मिक क्रियाकलापों से बँधे हैं, जीवन और साहसिक कार्य के प्रति ज़्यादा उत्सुक उन आरामतलब, उन्मुक्त बुद्धिजीवियों की अपेक्षा विश्व के आध्यात्मिक रहस्य से ज़्यादा परिचित हैं। वे उन प्राचीन तथ्यों और सत्यों, के बारे में जानते हैं, जिन पर मानव-मस्तिष्क आदिकाल से सोचता रहा है।"

इस तरह की सोच से उन्हें '*द एथिक्स ऑफ द वेदान्त : एण्ड इट्स मेटाफ़िजिकल प्रीसपोजिशंस*' ('वेदान्त का आचार-शास्त्र एवं इसके तात्त्विक पूर्वधाराएँ') विषय पर एक शोध प्रबन्ध लिखने का प्रोत्साहन मिला। यह प्रबन्ध लेखन एम.ए. की परीक्षा के लिए एक आंशिक शर्त की पूर्ति करता था। सौभाग्य से उन्हें हॉग से प्रोत्साहन मिला, जिन्होंने राधाकृष्णन को समझदारी तथा श्रद्धा के साथ निर्देशित किया। वास्तव में, हॉग ने उन्हें एक आकर्षक प्रमाण-पत्र दिया, जिसमें उन्होंने 'वेदान्त के आचारशास्त्र' (द एथीक्स ऑफ द वेदान्त) का संदर्भ दिया : 'यह शोध प्रबन्ध

जिसे राधाकृष्णन ने इस डिग्री के लिए अपने अध्ययन के दूसरे साल में तैयार किया है, दार्शनिक समस्या के मुख्य पहलुओं की एक विलक्षण समझ प्रस्तुत करता है, एक जटिल पहलू को सरलतम ढंग से समझने की क्षमता रखता है जो कि अच्छी अंग्रेज़ी के औसत पाण्डित्य से बहुत अधिक बढ़कर है।'

इस शोध-प्रबन्ध में राधाकृष्णन ने निर्भीकतापूर्वक हिन्दू धर्म की कमज़ोरियों का उल्लेख किया तथा उन धार्मिक प्रथाओं को त्याग देने की वकालत की, जो अपना महत्त्व खो चुकी थीं तथा जीवन के बुद्धिसंगत मार्ग में विरोधाभासी प्रतीत होती थीं। किन्तु इसका उत्तर भौतिकवाद नहीं था। व्यक्ति के जीवन में आध्यात्मिक भ्रातृत्व की वेदान्ती दृष्टि प्रतिबिम्बत होनी चाहिए, जिससे उसका जीवन सार्थक उद्देश्यपूर्ण तथा सुखी बन सके। राधाकृष्णन ने निश्चयपूर्वक कहा कि हिन्दू वेदान्त वर्तमान शताब्दी के लिए उपयुक्त दर्शन उपलब्ध करा सकता है, जो कि इस औद्योगिक युग के अमानवीकरण पर विजय पाने को संघर्ष कर रहा है। वेदान्ती आचार संहिता ने मनुष्यों को धरती पर एक आदर्श जीवन जीना सिखाया और उसी समय ज्ञानातीत सर्वोच्च सत्ता के साथ 'आत्म' की एकता महसूस करते हुए इस जीवन को आगे बढ़ाया। व्यावहारिकता तथा प्रार्थनामय जीवन को एक हितकर संघ से एकमेक किया जा सकता है। अद्वैतवादी एकता की प्राप्ति के लिए किसी (व्यक्ति) की आध्यात्मिक लालसा को नीतिपरक जीवन-मार्ग में आने की आवश्यकता नहीं है।

एम.ए. की पढ़ाई पूरी करने के बाद राधाकृष्णन उच्च शिक्षा के लिए विदेश जा सकते थे, किन्तु उन्हें पारिवारिक ज़रूरतों के कारण कुछ कमाना आवश्यक था। कठिन प्रयास के बाद उन्होंने मद्रास शैक्षिक सेवा में एक सामान्य पद प्राप्त करने की व्यवस्था कर ली। तदनुसार 1909 में उन्होंने मद्रास प्रेसीडेंसी कॉलेज के दर्शन विभाग में कार्य आरम्भ किया। 1910 में एल. टी. डिग्री के लिए उन्होंने सैदापेट के प्रशिक्षण कॉलेज में दाख़िला लिया। उस आयु में भी दार्शनिक अवधारणाओं के व्याख्याता के रूप में उनकी प्रतिभा एकदम स्पष्ट थी। उनके प्रोफ़ेसर ने अपने विद्यार्थियों के लिए राधाकृष्णन को 12 व्याख्यान देने के लिए राज़ी कर लिया। इस समय उन्होंने एक पुस्तिका *एसेंसल्स ऑफ़ साइकोलॉजी* (मनोविज्ञान के अनिवार्य तत्त्व) तैयार की, जो 1912 में ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस से प्रकाशित हुई।

मद्रास प्रेसीडेंसी कॉलेज में राधाकृष्णन 1911 में लौटे। आज देखें तो यह एक शुभारम्भ था। आज मूलतः वे एक शिक्षक माने जाते हैं तथा कृतज्ञ राष्ट्र द्वारा उनका जन्मदिन शिक्षक-दिवस के रूप में मनाया जाता है। जैसा कि डॉ. बालकृष्ण जोशी ने कहा—"यहाँ वे शिक्षकों के बीच एक गुरु थे।" मनोविज्ञान, यूरोपीय चिन्तन तथा राजनीतिक दर्शन विषयक उनका पाठन इतना लोकप्रिय था कि अन्य कॉलेजों के विद्यार्थी भी उनकी कक्षाओं में उपस्थित होने लगे। अपने तथा अपने विद्यार्थियों

के बीच उन्होंने कोई दूरी नहीं रखी। चेहरों को पहचानने वाली उनकी याददाश्त उन सभी के लिए लाभदायक थी, जो उनके सम्पर्क में आते थे और वे महसूस करते थे कि राधाकृष्णन उन सभी का ध्यान रखते हैं। पाश्चात्य चिन्तन पर उन्होंने वहुत-सी पुस्तकें पढ़ीं, साथ ही पारम्परिक पण्डितों की मदद से संस्कृत के गौरवग्रन्थों का भी व्यवस्थित अध्ययन शुरू किया। शोध पत्रों में लिखना तथा उन्हें *इंटरनेशनल जर्नल ऑफ़ इथिक्स* तथा *द एशियाटिक रिव्यू* जैसे विदेशी जर्नलों में प्रकाशित करवाना भी शुरू कर दिया।

डॉ. सी. आर. रेड्डी जो कि एक प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे, राधाकृष्णन को उनकी मद्रास शैक्षिक सेवा की स्थायी सेवावधि से बाहर—विश्वविद्यालय के वातावरण में लाने वाले प्रेरणा स्रोत रहे। 1918 में राधाकृष्णन मैसूर विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के प्रोफ़ेसर बन गये। उनकी सर्जनात्मक लेखनी पहले से ही विचारोत्तेजक कार्य करने लगी थी और फिर उनका पहला महत्त्वपूर्ण प्रकाशन आया *द फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ रवीन्द्रनाथ टैगोर* दूसरा था *द रीन ऑफ़ रिलिजन इन कन्टेम्पोरेरी फ़िलॉसफ़ी* । ऐसा प्रतीत होता था कि उन्होंने अपनी सर्जनात्मक लेखनी द्वारा एक उपन्यास *द क्राइम ऑफ़ लीला* की रचना की थी, जो कि अभी तक अप्रकाशित है। अंग्रेज़ी भाषा पर प्रभुत्व रखने के कारण राधाकृष्णन इन्डो-ऐंग्लियन (भारतीय-अंग्रेज़ी) साहित्य की दुनिया में एक उपन्यासकार के रूप में बड़ी धूमधाम से प्रविष्ट हो सकते थे, किन्तु उन्होंने स्पष्टतया इस विचार पर ध्यान नहीं दिया, हालाँकि एक बार उन्होंने उपन्यास 'शृंखला' की एक ऐसी योजना बनायी थी, जिससे वे भारतीय परम्परा पर अपने विचार व्यक्त कर सकें तथा इन्हें पाश्चात्य सभ्यता के प्रकाश में अच्छी तरह आत्मसात् कर सकें। तथापि वे अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से भारतीय साहित्य निर्माताओं में एक दार्शनिक व्याख्याकार बने। प्रोफ़ेसर जे. एच. मूरहेड ने उन्हें यह कहते हुए उपयुक्त मार्ग सुझाया कि 'राधाकृष्णन भारतीय दर्शन पर एक अच्छी पुस्तक तैयार करने में वेहतर भूमिका निभायेंगे।' युवा प्रोफ़ेसर राधाकृष्णन अब अपना सही काम पा गये थे।

सन् 1920 में जव कलकत्ता विश्वविद्यालय में मानसिक तथा नैतिक विज्ञान के प्रोफ़ेसर किंग जार्ज का पद रिक्त हुआ तो वाइस-चांसलर सर आशुतोष मुखर्जी ने उक्त पद के लिए राधाकृष्णन को आमन्त्रित किया। इस पद पर उनकी नियुक्ति को भारी प्रशंसा मिली, साथ ही एक हज़ार रुपये प्रतिमाह वेतनमान ने उन्हें वित्तीय चिन्ताओं से भी मुक्त कर दिया। मैसूर यूनिवर्सिटी के विद्यार्थी राधाकृष्णन का जाना सुनकर बहुत उदास हुए और उन्हें भावभीनी विदाई दी।

कलकत्ता विश्वविद्यालय में राधाकृष्णन ने अपना कार्य सीनेट हॉल में दिये गये एक सार्वजनिक व्याख्यान से शुरू किया। शीघ्र ही वे अपने कार्य में व्यस्त

हो गये। एक जिज्ञासु पाठक तथा अथक व्याख्याता के साथ-साथ राधाकृष्णन एक बड़े लेखक भी थे। कलकत्ता में ही उन्होंने भारतीय दर्शन के दो विशाल ग्रन्थों की योजना बनायी तथा निष्पादन किया। वे एक मिशन को समर्पित प्रोफ़ेसर थे और विश्व को यह दिखाना चाहते थे कि मानवता के समक्ष सार्वभौम एकता प्राप्त करने का सर्वोत्तम विकल्प वेदान्तवादी हिन्दू धर्म है। उनके अनुसार हिन्दू धर्म को धार्मिक रूढ़िवाद के एक मन्त्र के रूप में नहीं समझा जाना चाहिए। इन दो ग्रन्थों ने राधाकृष्णन के लक्ष्य को अच्छी तरह प्राप्त किया। 1936 में (द्वितीय ग्रन्थ-प्रकाशन के दस वर्ष के भीतर) उन्होंने विनम्र गर्व के साथ कहा :

> "मैं जानता हूँ, इस देश में दर्शन के गहन अध्येता तथा संस्कृत के महानतर पण्डित हैं। मेरी महत्त्वाकांक्षा केवल इतिहास लेखन की नहीं है बल्कि मस्तिष्कीय गति की व्याख्या तथा उद्घाटन है और मानव-प्रकृति के दुर्गम्य तल में भारतीय स्रोतों को खोलना है। एक समय था, जब भारतीय दर्शन को अनोखा अपरिचित, अप्रचलित तथा विश्व के आध्यात्मिक जागरण की भूमिका में अक्षम माना जाता था। यह धारणा अब धीरे-धीरे समाप्त हो रही है।"

कलकत्ता में राधाकृष्णन रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बहुत निकट आ गये, हालाँकि रवीन्द्रनाथ के बारे में उन्होंने पहले ही एक पुस्तक लिखी थी। उन्होंने भारतीय दार्शनिक कांग्रेस की स्थापना की तथा कलकत्ता में आयोजित इसके प्रथम अधिवेशन में रवीन्द्रनाथ ठाकुर को सभापति पद पर आसीन करके उन्हें अत्यन्त सन्तुष्टि मिली। और जब उन्होंने अपनी पुस्तक *फिलॉसॉफ़ी ऑफ टैगोर* की प्रस्तावना लिखने के लिए रवीन्द्रनाथ से आग्रह किया तो कवि ने हल्के-से कृति को प्रस्तुत किया :

> "अपने दर्शन के विषय में मैं मि. जोर्डन की तरह हूँ जो कि अपने जीवन में बिना जाने ही इसे नीरस कह रहे थे।... यह बताना निरर्थक ही है कि मेरी रचनाएँ अपनी घुली-मिली धाराओं में दार्शनिक चिन्तन रूपी शुद्ध सोने को लेकर चलती हैं और (चूँकि) रेत को छानकर तथा मूल्यवान कणों को गलाकर ही सोने की ईंटें बनायी जा सकती हैं, इसलिए यह पाठकों पर है कि वे इसे खोज निकालें। लेकिन मेरी ओर से जिज्ञासुओं को किसी प्रकार का आश्वासन या अनुभूति की गारन्टी देना एक जोखिम भरा कार्य है।"

तथापि वह दिन दूर नहीं था, जब रवीन्द्रनाथ व्यक्ति-धर्म के सार्वभौम स्वीकृत दार्शनिक के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

1927 में राधाकृष्णन लन्दन गये, जहाँ उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य के विश्वविद्यालयों की कांग्रेस में कलकत्ता विश्वविद्यालय का प्रतिनिधित्व किया। ऑक्सफ़ोर्ड में मैनचेस्टर

कॉलेज के प्रिंसिपल के निमन्त्रण पर उन्होंने कई प्रभावशाली व्याख्यान दिये, जिनमें उन्होंने हिन्दू धर्म को स्पष्ट किया और उसे मायावाद समझी जाने वाली भ्रान्तियों से मुक्ति दिलाई। मायावाद भाग्यवाद का एक दुर्भाग्यपूर्ण सिद्धान्त उतना ही पुरातन था जितना कि शास्त्र बताते हैं, परन्तु वह वैज्ञानिक रूप से गतिशील भी था :

> "वेदों के प्रति हिन्दू दृष्टिकोण आलोचना के साथ-साथ विश्वास संयमित है, ये विश्वास सम्भव है हमारे भी काम आयें, क्योंकि आस्थाएँ और रूप हमारे पूर्वजों के सहायक रहे हैं। अतीत काल के प्रमाण उपयोगी हो सकते हैं, फिर भी वर्तमान युग में साक्ष्य की जाँच तथा विश्लेषण करने के आलोचनात्मक अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता। जैसे कि पहले से मानव आत्माओं में 'ईश्वर' पद की प्रतिध्वनियाँ अमूल्य हैं, उनके प्रति हमारा सम्मान इस सत्य की मान्यता से संयमित होना चाहिए कि ईश्वर ने अपने प्रेम और प्रज्ञा का रहस्योद्घाटन करना कभी समाप्त नहीं किया। इसके अतिरिक्त धार्मिक अनुभव का हमारा विवेचन विज्ञान के निष्कर्षों के समनुरूप होना चाहिए। ज्ञान-वृद्धि के साथ-साथ धर्मशास्त्र विकसित होता है। परम्परा के मात्र उन्हीं हिस्सों को संवेदना के साक्ष्य से श्रेष्ठ माना जाना चाहिए जो तार्किक रूप से संगत हो न कि समस्त परम्परा को।"

इस दृष्टिकोण ने प्रबुद्ध श्रोता को निश्चित रूप से प्रभावित किया। उनके व्याख्यान *द हिन्दू व्यू ऑफ़ लाइफ़* शीर्षक से प्रकाशित हुए तथा बाद में इसके कई संस्करण छपे और इनका अनेक पश्चिमी व्यक्तियों जैसे, एल. पी. जैक्स तथा जे. बी. एस. हाल्डेन के जीवन पर दूरगामी प्रभाव पड़ा।

विश्वविद्यालयी कांग्रेस के समापन के बाद राधाकृष्णन ने संयुक्त राज्य अमेरिका की यात्रा की। वहाँ उन्होंने शिकागो में 'हास्केल व्याख्यान' दिये तथा हार्वर्ड में दर्शनशास्त्र के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में भाग लिया। यहाँ उन्होंने 'सभ्यता के इतिहास में दर्शन की भूमिका' विषय पर वक्तव्य दिया। सर्वाधिक जटिल दार्शनिक समस्याओं को स्पष्ट करते हुए उन्होंने व्यंग्य-विनोद के समुचित अंदाज़ में संस्कृत मुहावरों से भरी अंग्रेज़ी से अपने श्रोताओं को मुग्ध कर दिया। काले सागर के पार राधाकृष्णन की प्रथम यात्रा अक्षरशः एक विजयी यात्रा थी। राधाकृष्णन जब भारत लौटे तो स्वयं को उन्होंने यूनिवर्सिटी की राजनीति के पाश में जकड़ा पाया। वाइस-चांसलर जदुनाथ सरकार शिक्षकों से अप्रसन्न थे। राधाकृष्णन शैक्षिक मामलों में सरकारी हस्तक्षेप की निर्भीक आलोचना करते थे। वे जिस अनुशासित ढंग से पढ़ाते थे, उसी ढंग से स्नातकोत्तर परिषद के अध्यक्ष के रूप में प्रशासनिक कार्य भी करते थे। वे विश्वविद्यालय के सिंडिकेट के रूप में चुने गए थे तथा विश्वविद्यालयी संगठन

समिति के एक महत्त्वपूर्ण सदस्य थे।

लेकिन पाण्डित्य राधाकृष्णन में प्रमुख स्थान पा चुका था और वे हाशिये पर रह ही नहीं सकते थे, क्योंकि 'भारतीय दर्शन' (इण्डियन फ़िलॉसॉफ़ी) पर उनकी दो पुस्तकों ने अद्‌भुत सफलता प्राप्त की थी। फिर भी सर्वोच्च सफलता अभी शेष थी। राधाकृष्णन की सर्वोत्तम कृतियों में से सब कुछ अब प्रकट होने लगीं : *द रिलिजन वी नीड* (धर्म, जिसकी हमें आवश्यकता है) *कल्कि आर—द फ़्यूचर ऑफ़ सिविलाइजेशन* (कलियुग की भावी सभ्यता का विकास) तथा *हार्ट ऑफ़ हिन्दुस्तान* (हिन्दुस्तान का हृदय) इन विषयों पर उन्होंने मैनचेस्टर तथा लंदन विश्वविद्यालयों में व्याख्यान दिये। इन व्याख्यानों ने बड़ी संख्या में श्रोताओं को आकर्षित किया तथा *एन आइडियलिस्ट व्यू ऑफ लाइफ़* (एक आदर्श जीवन-दृष्टि) शीर्षक से प्रकाशित हुए। इस पुस्तक के कई संस्करण निकले और डॉ. गोपाल के अनुसार 'तीस के दशक में राधाकृष्णन अमेरिका तथा यूरोप में प्रायः आराधना की मूर्ति बन गये।'

डॉ. सी. आर. रेड्डी ने, जिन्होंने राधाकृष्णन को मैसूर विश्वविद्यालय में लाने में प्रेरक भूमिका निभाई थी, राधाकृष्णन को 1927 में आन्ध्र यूनिवर्सिटी में प्रथम दीक्षान्त भाषण के लिए आमन्त्रित किया। चार वर्ष बाद राधाकृष्णन वाल्टेयर में आन्ध्र विश्वविद्यालय के उप कुलपति बने। अब वे विश्वविद्यालयी शिक्षा समस्याओं में गहरी रुचि रखने लगे थे और यह एक अच्छा अवसर था कि वे अपने आदर्शों को व्यवहार में लायें। प्रशंसनीय सरलता के साथ उन्होंने एक उत्कृष्ट संस्था के निर्माण के कठिन कार्य को पूरा किया। वाल्टेयर के रमणीय गाँव ने आश्रम सदृश वातावरण प्रस्तुत किया। वहाँ उनका पहला कार्य ऑनर्स तथा स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों को निर्धारित करना था। दूसरा कार्य संस्था को सरकारी हस्तक्षेप से मुक्त कराना था। राधाकृष्णन ने विज्ञान और कला संकायों के कुछ उत्कृष्ट अध्यापकों को इकट्ठा करना शुरू किया तथा विज्ञान और प्रौद्योगिकी का पाठ्यक्रम तैयार करने में मदद के लिए सी. वी. रमन तथा एम. विश्वेश्वरैया जैसे प्रख्यात व्यक्तियों के साथ जोड़ दिया। अग्रिम राशि मंजूर करके उन्होंने शोध को प्रोत्साहित किया और आवासीय विश्वविद्यालय बनाने के लिए ऑक्सफ़ोर्ड-प्रारूप का इस्तेमाल किया तथा यूनिवर्सिटी-प्रवेश द्वार के बाहर स्नातक कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए एक रोज़गार ब्यूरो की स्थापना भी की। रवीन्द्रनाथ ठाकुर को आमन्त्रित करते हुए उन्होंने लिखा कि वे आयें, परिसर में रहें तथा कुछ विशिष्ट व्याख्यान दें। उन्होंने पुस्तकालय को समृद्ध किया। राधाकृष्णन द्वारा स्थापित सशक्त आधारों पर विश्वविद्यालय की अनेक शाखाएँ आज भी टिकी हुई हैं।

1936 में राधाकृष्णन तीन वर्ष के लिए इंग्लैण्ड की ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी

में पढ़ाने गये। पद था समालोचक प्रोफ़ेसर का। तुलनात्मक धर्म पर दिये गये उनके सूक्ष्मदृष्टि व्याख्यानों के लिए शिक्षक, विद्यार्थी तथा प्रबुद्ध व्यक्ति उन्हें बहुत प्यार करते थे। स्वाभाविक था कि एक वक्ता के रूप में उनकी बेहद माँग थी और भाषण के लिए वे चर्च, प्रार्थनागृहों तथा गिरिजाघरों में भी बुलाये गये। 1937 में ब्रिटिश अकादेमी में उन्होंने 'बुद्ध पर प्रमुख' विचार (मास्टर माइंड) व्याख्यान दिया। उनके भाषणों के लिए इंग्लैण्ड में आश्चर्यजनक उत्साह था। उनकी इस प्रसिद्धि को सुनकर यहाँ भारतीयों ने भी गर्व महसूस किया। महात्मा गाँधी ने जो कि उस समय एक पराधीन राष्ट्र का नेतृत्व कर रहे थे, राधाकृष्णन को लिखा :

> "मेरा अनुभव बार-बार मुझे यह विश्वास दिलाता है कि हमने अपने पूर्वजों द्वारा छोड़ी गयी विरासत के प्रति न्याय नहीं किया है। हमलोग अपने तथा विश्व के लिए इसके मूल्य को समझने में बहुत सुस्त हो गये हैं। मुझे खुशी है कि तुम प्राचीन ज्ञान को पश्चिम के लिए परिभाषित करने की सफलतापूर्वक कोशिश कर रहे हो।"

राधाकृष्णन की श्रद्धा अब महात्मा गाँधी तथा जवाहरलाल नेहरू के प्रति गहराने लगी थी। महत्त्वपूर्ण भाषणों में वे इन दोनों को उद्धृत करना नहीं भूलते थे। इसी भांति विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह में भी वे देशभक्तिपूर्ण भावनाओं को नहीं छिपाते थे। वे भारत की राजनीतिक स्वाधीनता चाहते थे, परन्तु सशस्त्र दमन के पूर्णतः विरोधी थे। भारत और इंग्लैण्ड में एक उच्चस्तरीय सम्मानित विद्वान की प्रशंसनीय हैसियत से राधाकृष्णन ने राज्य सचिव पर दबाव डालने का प्रयास किया कि वह गाँधी को सुने। 1939 में वे दक्षिण अफ्रीका गये तथा भारत के प्राचीन विवेक का सन्देश प्रसारित किया और वहाँ संघर्षरत भारतीय प्रवासियों का मनोबल बढ़ाया। उनके तुलनात्मक दृष्टिकोण ने हिन्दू तथा ईसाई धर्म में इतना सशक्त आकर्षण पैदा कर दिया कि एक उत्साही प्रशंसक ने तो प्रशिक्षित प्रोफ़ेसर से एक नये विश्वधर्म का उपक्रम करवाना चाहा।

विश्व युद्ध आरम्भ होने के कारण वे वापस भारत चले आये। उन्हें बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय का उपकुलपति नियुक्त किया गया। प्रारम्भ में वे बिलकुल उत्सुक नहीं थे, किन्तु मालवीय तथा गाँधी के आग्रह पर उन्होंने इस कार्य को सम्भाला। चिन्तन के क्षेत्र को व्यापक बनाने की अपनी जन्मजात प्रवृत्ति के कारण उन्होंने संस्था के नाम में जुड़े 'हिन्दू' शब्द को एक विस्तृत परिभाषा दी। विश्वविद्यालय में उन्होंने एक इस्लामिक अध्ययन केन्द्र स्थापित किया तथा महिलाओं के लिए वेदों का अध्ययन सम्भव बनाया।

मुख्य संस्थाओं के प्रमुखों के लिए वह कोई आसान नहीं था, जोकि स्वाधीनता

के लिए सशक्त राजनीतिक आन्दोलन तथा शासक वर्ग की कठोर शक्ति संरचना के बीच विरोधाभासी खिंचाव महसूस कर रहे थे। राधाकृष्णन ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेताओं के प्रति अपनी देशभक्तिपूर्ण भावनाओं तथा श्रद्धा को कभी गुप्त नहीं रखा, परन्तु एक शैक्षिक प्रमुख के रूप में उन्हें विद्यार्थियों की सुरक्षा हेतु सरकारी रोष से भी अथक संघर्ष करना था। समय पाकर राधाकृष्णन शानदार ढंग से उभरे तथा उनकी महत्ता ने एक निश्चित प्रभाव डाला। एक मौक़े पर माइकेल नीदरसोल ने जिसे संयुक्त प्रान्त के अशान्त क्षेत्र का भार दिया गया था, गवर्नर सर मूरिस हेलट की इस सलाह को खुले आम अस्वीकार दिया कि वह राधाकृष्णन से सख़्ती से पेश आये, और उसने चिल्लाकर कहा : "महामहिम, आप प्रान्त के गवर्नर हो सकते हैं (और हैं) पर क्या आप ब्रिटिश अकादेमी तथा सभी की आत्माओं के फ़ेलो (साथी) बनने की आशा रख सकते हैं?"

राधाकृष्णन ने विश्वविद्यालय में उत्कृष्ट प्राध्यापकों का चयन किया तथा विश्वविद्यालय प्रशासन की प्रबन्ध-व्यवस्था सुनिश्चित करके बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी का शैक्षिक स्तर ऊँचा उठाया। उन्होंने स्वयं को व्याख्यानों में भी व्यस्त रखा और समस्त भारत में अनेक अध्यक्षीय तथा दीक्षान्त भाषण दिये। इससे श्रोताओं में एक उच्च तथा अधिक आदर्शवादी चेतना का विकास हुआ।

भारत के स्वाधीन होने के बाद जब अधिकांश लोग विश्राम कर रहे थे, राधाकृष्णन ने सहर्ष एक चुनौतीपूर्ण कार्य स्वीकार किया। विश्वविद्यालय आयोग के अध्यक्ष के रूप में उन्होंने जाकिर हुसैन, मेघनाद साहा तथा लक्ष्मण स्वामी मुदलियार सहित दस शैक्षिक विद्वानों की एक टोली का नेतृत्व किया, जिसने भारत में 25 विश्वविद्यालयों का दौरा किया और एक रिपोर्ट तैयार की, जो आज भी आधुनिक भारतीय शिक्षा के स्तम्भों में से एक है। इसमें इन उच्च शैक्षिक संस्थाओ की समस्याओं का विश्लेषण तथा शैक्षिक स्तर को सुधारने का प्रस्ताव बेजोड़ और श्रेष्ठ था। यह बात अलग है कि उस पर उद्देश्यपूर्ण कार्यवाही नहीं की गयी और अधिकांश सुझावों पर आज भी धूल जमी हुई है, अर्थात् उन्हें भुला दिया गया है।

1949 में राधाकृष्णन सोवियत रूस में भारत के राजदूत बनाये गये। शीत युद्ध के कुहासे से निकलने के लिए दार्शनिक-राजनेता का यह चयन जवाहरलाल नेहरू की एक बेहतर पसन्द का नतीज़ा था। स्टालिन भी इससे अप्रसन्न नहीं था। उसने अपने वास्तविक उद्देश्य—विश्वशान्ति को 'तनावशैथिल्य' के सहारे पाने में मदद के लिए राधाकृष्णन को सम्मानपूर्वक रखा। भारतीय राजदूत से अपनी पहली भेंट के बाद स्टालिन ने टिप्पणी की : "यह व्यक्ति तरल हृदय से बोलता है न कि अन्य सामान्य राजदूतों की तरह।' "यद्यपि एक राजदूत के रूप में राधाकृष्णन के पास भारी ज़िम्मेदारियाँ थीं (कोरियाई युद्ध, दुर्भिक्ष से उबरने के लिए भारत को

रूसी अनाज की आपूर्ति), परन्तु उन्होंने ऑक्सफ़ोर्ड में पढ़ाना और विद्वत्तापूर्ण शैली में लिखना लगातार जारी रखा।" जैसा कि आर. वेंकटरमण कहते हैं, 'क्रेमलिन हो या काशी, राधाकृष्णन की विद्वत्ता का दीप, समान रूप से अनवरत जलता रहा।'

1952 में राधाकृष्णन भारत के उप-राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। उन्होंने महान् प्रतिष्ठा सहित राज्यसभा का सभापतित्व ग्रहण किया और उन्हें सभी सदस्यों से सहज सहयोग मिला। 1954 में उन्हें 'भारत रत्न' से सम्मानित किया गया। 1962 में वे भारत के राष्ट्रपति बने।

इन्हीं के कार्यकाल में भारत को चीनी आक्रमण की चिन्गारी को झेलना पड़ा। तथापि, राधाकृष्णन की उपस्थिति तथा शान्ति और साहस भरे उनके शब्दों ने भारतीय मनोबल को उस गहन तथा भयानक अंधकार से ऊपर उठाया और यही राष्ट्र का विवेकपूर्ण उद्देश्य था। उन्होंने कहा :

> "कठिन भौगोलिक क्षेत्र तथा चीनियों की ज़्यादा संख्या के कारण सैनिक दृष्टि से हम प्रतिकूल स्थिति में थे। स्थिति की वास्तविकता के प्रति उन्होंने हमारी आँखें खोल दी हैं। अब हम अपनी कमियों को जानते हैं और वर्तमान की आवश्यकताओं तथा भविष्य की माँगों के बारे में सचेत हैं। देश ने एक नया उद्देश्य, एक नई आकांक्षा विकसित कर ली है।"

राधाकृष्णन को कुछ और गहरे सदमों को भी झेलना था। 1964 में उन्होंने अपने घनिष्ठ मित्र, जवाहरलाल नेहरू को खो दिया। इस अपूरणीय क्षति के तुरन्त बाद उनके मुँह से निकले वाक्यों से उनकी गहन मनोव्यथा का अनुमान लगाया जा सकता है :

> "अपनी विशिष्ट, सशक्त और अनुनादी वाणी के द्वारा, जिसे हम फिर कभी नहीं सुनेंगे, उन्होंने भारतीयों की एक समग्र पीढ़ी सृजित की, उसे साँचे में ढाला तथा प्रेरणा दी। इनमें (भारतीयों में) उन्होंने उन प्रथम सिद्धान्तों के प्रति निष्ठा जगायी, जिन्हें वे बहुत पसन्द करते थे। केवल महान आदर्शों को रखना ही काफ़ी नहीं है, हमें उनकी उपलब्धि के लिए कार्य करना है। समय ही स्थिति का सार है, और नेहरू समय की पवित्रता का बहुत आदर करते थे। समय की निर्दय माँगें प्रतिवाद स्वीकार नहीं करतीं और इसीलिए वह महान नेता जाता रहा।"

चीनी आक्रमण के दौरान राधाकृष्णन ने यदि भारतीयों की निराशा दूर कर उनकी आत्मा को मज़बूत किया था, तो 1965 ने राधाकृष्णन के दार्शनिक नेतृत्व के समक्ष एक और चुनौती खड़ी कर दी। पाकिस्तानी युद्ध हमारे मस्तिष्क को

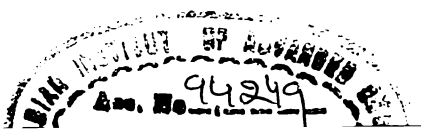

विजय-सुख की ओर मोड़ सकता था, परन्तु राधाकृष्णन के शब्दों ने विजय को सही परिप्रेक्ष्य में रखा :

> "पाकिस्तान ने सोचा था कि भारत वहुत कमज़ोर है, अथवा वहुत भयभीत है, अथवा लड़ने के लिए अभिमान से भरा है। यद्यपि भारत ने शस्त्रागार के लिए सहज अनिच्छुक रहते हुए ही आक्रमण के समय अपनी सुरक्षा महसूस की। पाकिस्तान ने यह भी सोचा था कि देश में साम्प्रदायिक अशांति फैल जायेगी फलस्वरूप वह अपना लक्ष्य प्राप्त कर लेगा। उसके ग़लत अनुमानों को एक कठोर आघात की तरह उस तक पहुँचना ही चाहिए था।"

इससे पूर्व कि राष्ट्र नेहरू की क्षति और लगातार युद्ध के सदमों से उवर पाता, लालवहादुर शास्त्री का निधन हो गया। लेकिन राधाकृष्णन की उपस्थिति सदा की तरह ढाढ़स देने वाली थी। भारतीय लोकतंत्र एक पल के लिए भी नहीं डगमगाया। दुनिया का कोई भी अन्य राष्ट्र इस वात के लिए गौरवान्वित नहीं था कि उसके राजनीतिक प्रमुख के रूप में दर्शनशास्त्र की एक अन्तर्राष्ट्रीय हस्ती विराजमान है। भारतीय लोकतन्त्र के लिए ये यशस्वी दिन थे।

राधाकृष्णन ने निश्चिन्त भाव से मद्रास में आराम करने के लिए अवकाश ग्रहण किया तथा प्रख्यात इकाइयों—जैसे साहित्य अकादेमी, पैन (PEN) अखिल भारतीय केन्द्र को लगातार बौद्धिक नेतृत्व प्रदान करते रहे। 1968 में उन्हें अकादेमी की फ़ेलोशिप से विभूषित किया गया तथा 1975 में धर्म-दर्शन की प्रगति में योगदान के लिए टेम्पलटन पुरस्कार से सम्मानित किया गया। लेकिन इसी वर्ष 17 अप्रैल, 1975 को उनका निधन हो गया।

3

जीवनी-लेखक

सारतः धर्म और दर्शन के व्याख्याकार होते हुए भी भारतीय-जीवनी लेखन के क्षेत्र में राधाकृष्णन का सुनिश्चित स्थान है। पश्चिम के लिए भारतीय दर्शन को परिभाषित करने के लिए, जिसके विषय में पश्चिम को बहुत कुछ अज्ञात था अथवा इसके विषय में उसकी जानकारी ग़लत थी, राधाकृष्णन यह जानते थे कि सर्वप्रथम उन्हें अपने विषय को आकर्षक बनाना होगा। भारत के समृद्ध पौराणिक इतिहास का ज्ञान तथा महान समसामयिक विद्वानों के सान्निध्य में रहने के कारण राधाकृष्णन को कोई समस्या नहीं थी। अतः, यद्यपि हिन्दू आचारशास्त्र तथा वेदान्त के सिद्धान्त के कारण वे प्रथमतः रवीन्द्रनाथ ठाकुर की ओर आकर्षित हुए तथापि इस कवि पर उनकी पुस्तक उससे कहीं अधिक महत्त्व रखती है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर का दर्शन (*द फ़िलॉसाफ़ी ऑफ़ रवीन्द्रनाथ टैगोर*) राधाकृष्णन की पहली पुस्तक है। ठाकुर उस समय एक आदर्श साहित्यकार के रूप में अपनी प्रतिष्ठा की पराकाष्ठा पर थे और अब प्रोफ़ेसर ने कवि को दार्शनिक प्रबन्ध की सीमा में परिवर्तित करने में सफलता प्राप्त कर ली थी। चारों ओर मौजूद आलोचकों से यह संकेत पाकर कि रवीन्द्रनाथ ईसाइयत से अनुप्राणित रहे हैं, उन्हें अच्छा नहीं लगता था। राधाकृष्णन की पुस्तक ने सिद्ध कर दिया कि रवीन्द्रनाथ की दार्शनिक परम्परा वेदों-उपनिषदों से आती है। वास्तव में ठाकुर का आगमन भावी मानवता के लिए ईश्वरीय सहमति की मुहर है : वह "सार्वभौम व्यक्तित्वों के कुछ उन प्रतिनिधियों में से एक थे जिनसे विश्व का भविष्य जुड़ा है।" आत्मविश्वास से किया गया यह दावा समसामयिक भारतीयों को सर्वोच्च पीठिका पर बैठाते हुए आज भी अटल है। यह केवल शुष्क दर्शन नहीं था, बल्कि आत्मोत्तेजक व्याख्यान था और पश्चिम ने इसे पसन्द किया। निस्सन्देह यह हमारे राष्ट्र का एक प्रतीकात्मक सम्मान था, जब जून 1938 में राधाकृष्णन को ब्रिटिश अकादमी में व्याख्यान देने के लिए बुलाया गया। राधाकृष्णन ने इसके लिए एक उद्दीप्त विषय का चुनाव किया। यह था—गौतम बुद्ध। लोगों ने अपेक्षा की होगी कि राधाकृष्णन हालाँकि एक हिन्दू हैं, जो कुछ विदेशी मिशनरियों द्वारा भारतीय धर्म की निन्दा करने के कारण अपनी परम्परागत

ऊँचाइयों (वे-स्प्रिंग्स) की ओर मुड़ गये हैं, इसलिए संस्कृत के एक विद्यार्थी के रूप में वह शंकर अथवा रामानुज को व्याख्यान के लिए चुनेंगे। परन्तु उन्होंने गौतम बुद्ध को चुना। वैदिक धर्म के एक विद्रोही को, जिसने पाली में प्रवचन दिये और जिसका धर्म भारत में प्रायः समाप्त हो गया है।

पश्चिमी श्रोताओं को सम्मोहित करने के लिए 1879 में सर एडविन अर्नाल्ड ने द *लाइट ऑफ़ एशिया* के माध्यम से जो कमाल दिखाया था, वही अब राधाकृष्णन ने कर दिखाया। यह वही 'जीवन' था जो पश्चिम का ध्यान खींचे हुए था और जिसकी तुलना पश्चिम क्राइस्ट (ईसा मसीह) के जीवन से कर रहा था। पश्चिमी लोगों के लिए, जो कि रहस्यवादी पूर्व से आशंकित रहते थे, यही एक था जिसे वे समझ सके। जैसा कि यूसिबो एल. रोड्रिग्स कहते हैं : "बुद्ध द्वारा प्रस्तावित समाधान अलौकिक की बजाय व्यावहारिक था और अपने समय पर उसने तात्कालिक प्रभाव डाला था।"

इसके बाद पश्चिम में थियोसोफ़िकल सोसाइटी, महाबोधि सोसायटी, शिकागो धर्म संसद, लकाडियो हार्न तथा आनन्द के. कुमारस्वामी के प्रयासों से 50 वर्षों तक लगातार बुद्ध प्रभाव का स्पष्ट प्रस्फुटन हुआ। महात्मा बुद्ध को भारतीय सनातन धर्म के एक मुख्य आधार के रूप में स्पष्ट करने का समय अब आ गया था। जैसा कि राधाकृष्णन के पुत्र तथा जीवनी-लेखक सर्वपल्ली गोपाल कहते हैं :

> "राधाकृष्णन यह घोषित करने के लिए अब एक प्रामाणिक मंच का प्रयोग कर सकते थे कि बुद्ध हिन्दू मत के एक सुधारक थे, पथ प्रवर्तक नहीं, और मूलभूत समस्याओं पर उनकी ख़ामोशी से न तो कृत्रिमतावाद (एगोनॉ-स्टिसिज़्म) झलकता था और न ही निरीश्वरवाद, अपितु यह तो निरपेक्ष (एब्सोल्यूट) को व्यक्त करने के प्रति एक अस्वीकृति थी, जिसे वह जानते थे, क्योंकि जीवन के नीतिशास्त्रीय मूल्यों के लिए यह प्रत्यक्षतः प्रासंगिक नहीं था।"

व्याख्यान की कोई पूर्व तैयारी नहीं थी, बल्कि वह एक तत्काल प्रस्तुति थी। राधाकृष्णन ने इसमें लिखित टिप्पणियों का भी सहारा नहीं लिया। उन्होंने अपने श्रोताओं को विद्वत्ता से नियन्त्रित किया। वहाँ जो दुर्बोध तात्त्विक चिन्तन होना था, उसे भी पृष्ठभूमि में ही रखा गया। उस हाल में जो दृश्य उपस्थित हुआ वह कुछ ऐसा था मानो एक राजकुमार रंक बन गया हो, एक विद्रोही असीम शक्ति-सम्पन्न संन्यासी हो गया हो, एक उल्लंघनकारी मानवता की रक्षा के लिए अपार कष्ट सह गया हो, सचमुच ईसा मसीह की तरह और जो मानो पाँच सौ वर्ष पूर्व ही अस्तित्व में था!

राधाकृष्णन सीधे अपने विषय पर पहुँचते हैं और जब वे प्रारम्भ से ही एक

उद्देश्य लेकर बोलने लगते हैं तो इस बात के औचित्य को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि एक हिन्दू दार्शनिक ने बुद्ध का चयन कैसे किया :

> "गौतम बुद्ध में हम पूर्व का एक आचार्य मस्तिष्क पाते हैं। जहाँ तक मानव जाति के जीवन और विचार पर उनके प्रभाव तथा एक धार्मिक परम्परा के संस्थापक के रूप में सभी के लिए पूज्य बनने का सम्बन्ध है वह किसी भी तरह किसी दूसरे से कम नहीं है। वे विश्वचिन्तन के इतिहास से जुड़ते हैं, सभी सुसंस्कृत मनुष्यों की सामान्य वंशगति से जुड़ते हैं, बौद्धिक एकता, नैतिक गम्भीरता तथा आध्यात्मिक सूक्ष्मदृष्टि द्वारा विचार करने पर गौतम बुद्ध निश्चय ही इतिहास की महानतम विभूतियों में से एक हैं।"

उल्लेखनीय है कि राधाकृष्णन जैसा प्रबुद्ध व्याख्याता 'इतिहास' के महानतम व्यक्तियों में से एक—बुद्ध—का उल्लेख करता है, दन्तकथा के किसी चरित्र का नहीं। वह जानता है कि उसके श्रोता समय-बद्ध तथ्यों में रूचि रखते हैं और इस शब्द का चुनाव श्रोताओं को यह विश्वास दिलाता है कि वे निश्चय ही कुछ सुनना चाहते हैं। अतः बुद्ध का जीवन एक विस्तृत व्यवहार के सन्दर्भ में लिया जाता है तथा प्रभावशाली गद्य में हम एक सोद्देश्य निष्कर्ष प्राप्त करते हैं। दृढ़ किन्तु विनम्र तरीक़े से संक्षिप्त वर्णन भी चमत्कारिक है। यहाँ तक कि 'मार' का निर्णायक प्रहार भी एक मनोवैज्ञानिक अनुभव के रूप में बताया जाता है। जब ऐसी दन्तकथाएँ भी कथा को गति प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण हैं, तो राधाकृष्णन भी पश्चिमी समानान्तर में लौट आते हैं और तुरन्त एक तुलनात्मक स्पष्टीकरण देते हैं। यह स्पष्टीकरण है ब्रह्म की बुद्ध को सलाह :

> "सम्भवतः इसका तात्पर्य है, जैसा कि वह अपने आप में वार्तालाप कर रहा था कि उसे क्या करना चाहिए, उसे एक चेतावनी मिली बहुत कुछ वैसी जैसी सुकरात के नरकदूत द्वारा सुकरात को मिली थी—जीवन से वापसी के विरुद्ध।"

एक खुला तथा उदार समाज इसके अलावा और क्या अपेक्षा कर सकता है कि राधाकृष्णन के अनुसार, बुद्ध की शिक्षाओं में ऐसा कुछ भी नहीं है, जो व्यक्ति विशेष के लिए हो :

> "अपने अनेक भाषणों में उन्होंने कमोवेश सुकरात की पद्धति का तर्क देते हुए अपने सम्भाषणों का प्रतिनिधित्व किया, और उन्हें (भाषणों—तर्कों को) मनवाते हुए अचेतन रूप से उन स्थितियों से भिन्न (स्थितियों) को स्वीकार करवाया, जहाँ से वे शुरू हुए थे। वे अपने अनुयायियों को आध्यात्मिक स्वतन्त्रता

का भार अस्वीकार करने की अनुमति नहीं देते थे। उन अनुयायियों को, एक सत्ता को स्वीकार करके सत्य की खोज का त्याग नहीं करना चाहिए उन्हें स्वतन्त्र व्यक्ति होना चाहिए, जिससे वे स्वयं के लिए एक प्रकाश तथा सहायता पाने योग्य वन सके।"

विचारशील श्रोता राधाकृष्णन की प्रेरणाओं से तटस्थ नहीं रह सकते थे। उस समय जब मिशनरीज़ गतिविधियाँ सारे भारत में फैली हुई थीं, राधाकृष्णन ने विचारोत्तेजक तथ्य प्रस्तुत किया :

"वाध्यतावश होने वाले परिवर्तन से वुद्ध अनभिज्ञ थे। आस्था नहीं वल्कि व्यवहार उनकी साधना पद्धति का आधार था। परिवर्तन को उन्होंने एक स्वभाव तथा आदत वनाने की कामना की। हम अपनी मूर्खतापूर्ण इच्छाओं के कारण दुखी हैं। स्वयं को प्रसन्न करने के लिए आवश्यक है एक नया हृदय पैदा करना तथा नयी आँखों से देखना। यदि हम बुरे विचारों का दमन तथा अच्छे विचारों का सृजन करते हैं, तो एक अप्रसन्न दिमाग़ को प्रसन्न वनाया जा सकता है। वुद्ध पन्थ-परिवर्तन की वात नहीं कहते, वे ब्राह्मण की पवित्र अग्नि के साथ वैठते हैं, तथा उसकी पूजा की निन्दा किये विना उसके विचारों पर वात करते हैं।"

राधाकृष्णन उवाऊ जीवनी-लेख के विस्तार में जाना पसन्द नहीं करते जिससे उसे विदेशी रंग दिया जा सके। वे अपने विचारों से एकता का मार्ग प्रशस्त करने के लिए तुलनात्मक धर्म की रुचि रखते हैं :

"वुद्ध का पूर्णरूपेण अन्त सुकरात और जीसस के शहीदी अन्त से स्पष्टतः अलग है। इन तीनों ने अलग-अलग मात्राओं में अपने-अपने समय की रूढ़ियों को नष्ट किया। तथ्यात्मक रूप में, वुद्ध वैदिक रूढ़िवाद तथा आनुष्ठानिकतावाद (सेरेमोनियलिज़्म) के कहीं अधिक प्रखर विरोधी थे, सुकरात ने एथेन्स के राज्य-धर्म तथा जीसस ने यहूदीवाद का उतना प्रखर विरोध नहीं किया। और भी, वे अस्सी (उस सदी के) तक जीवित रहे, बड़ी संख्या में अनुयायी बनाये तथा अपने जीवनकाल में ही एक धार्मिक व्यवस्था की स्थापना की। धर्म का भारतीय स्वभाव संभवतः अपरम्परागत व्यवहार में भिन्नता के लिए ज़िम्मेदार है।"

महात्मा गाँधी : उनके जीवन एवं कार्य पर चिन्तन (महात्मा गाँधी : रिफ़्लेक्शन्स ऑन हिज़ लाइफ़ एण्ड वर्क) राधाकृष्णन की एक अन्य कृति है जो 1939 में प्रकाशित हुई। जैसा कि पुस्तक का उप-शीर्षक संकेत करता है, यह एक महान

राजनीतिक व्यक्तित्व को केवल श्रद्धाञ्जलि ही नहीं है यह बताने के लिए भी है कि गाँधीजी की महानता एक संघर्षशील हीरो की बजाय उनके पवित्र जीवन में अधिक है। जब व्यक्ति राजनीति में प्रवेश करता है तो उसे सत्ता-निरपेक्ष बने रहने के लिए एक परा-मानवीय आत्म-नियंत्रण की आवश्यकता होती है, क्योंकि धर्म तथा सामाजिक विज्ञान से जुड़ी राजनीति व्यक्ति के धैर्य के लिए घातक सिद्ध हो सकती है। सारांशतः राधाकृष्णन इस संतुलन के लिए, जो कि उनकी अपनी भी एक विशेषता है, गाँधीजी की प्रशंसा करते हैं। गाँधीजी की *सत्य की खोज* उन्हें तब वशीभूत कर लेती है, जब महात्मा यह कहते हैं :

> "सत्य की सार्वभौम तथा सर्वव्याप्त आत्मा को प्रत्यक्ष देखने के लिए व्यक्ति को सृष्टि की नगण्यतम रचना को भी स्वयं अपनी तरह प्यार करने योग्य होना चाहिए। और इसके बाद जो व्यक्ति ऊपर उठता है, वह जीवन के किसी क्षेत्र से अछूता नहीं रह सकता।"

राधाकृष्णन स्वयं अपनी गतिविधियों को अकादेमी की चारदीवारी के अन्दर सीमित नहीं कर सके, और यह महत्त्वपूर्ण है कि उन्होंने अपने आत्म-कथात्मक अंश को *सत्य के लिए मेरी खोज* (माई सर्च फ़ॉर ट्रुथ) कहा। क्या प्रत्येक जीवन सत्य को खोज नहीं रहा है, यद्यपि अचेतन या अनजाने रहकर ही?

निष्कर्षतः एक जीवनी लेखक के रूप में राधाकृष्णन अन्धभक्त कभी नहीं रहे। गाँधी का सार्वभौमिक यौन-प्रतिबन्ध अस्वीकार कर दिया जाता है और केवल उसके अयथार्थ रूप में ही नहीं बल्कि उसे एक सकारात्मकरूप देते हुए :

> "यौन-क्रिया केवल शारीरिक आनन्द भोग या विशुद्ध दैहिक कर्म नहीं है, बल्कि एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा प्रेम की अभिव्यक्ति होती है तथा जीवन को स्थिरता प्राप्त होती है। बुराई यह तब बन जाती है जब यह दूसरों को क्षति पहुँचाती है अथवा जब किसी के आध्यात्मिक विकास में हस्तक्षेप करती है, परन्तु इनमें से कोई भी परिस्थिति (यौन) स्वयं में अन्तर्निहित नहीं है। वह कृत्य जिसके द्वारा हम जीते हैं, जिसके माध्यम से प्रेम अभिव्यक्त होता है और जिससे जाति क़ायम है, वह कोई लज्जा या पाप का कार्य नहीं है।"

तथापि, राधाकृष्णन उन अनेक विवादों की गहराई में नहीं जाते जो महात्मा गाँधी को घसीटते हैं। उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट है, अतः विस्तार के बारे में चिन्तित क्यों हुआ जाये? राधाकृष्णन यह कहते हुए प्रतीत होते हैं कि इस कठिन समय में ऐसे उत्कृष्ट नेता के उपहार के लिए हमें कृतज्ञ होना चाहिए :

"सच्चा होने के लिए, साधारण होने के लिए, शुद्ध हृदय तथा कोमल होने के लिए, दुख और संकट में प्रसन्न तथा सन्तुष्ट वने रहने के लिए, जीवन को प्यार करने तथा मृत्यु से न डरने के लिए, आत्मा की सेवा करने तथा मृतात्माओं द्वारा भूताविष्ट न होने के लिए जव से विश्व प्रथमतः प्रारम्भ हुआ है, इससे अच्छा (गाँधीजी से वेहतर) पहले कभी न तो पढ़ा गया है, न जीवित ही रहा है।"

ऐसी ही कृतज्ञता जवाहरलाल नेहरू की व्याख्या में लिखते हैं :

"मानव जाति के एक महान् उद्धारक के रूप में नेहरू अद्वितीय हैं, एक ऐसे व्यक्ति के रूप में जिसने अपनी सारी जीवनी शक्ति राजनीतिक दासता, आर्थिक गुलामी, सामाजिक दमन तथा सांस्कृतिक जड़ता से लोगों की मानसिक मुक्ति के लिए लगा दी।"

4

दर्शन के व्याख्याता

राधाकृष्णन को दुनिया में दर्शन के एक प्रतिभाशाली व्याख्याता के रूप में जाना जाता है। ग्रीक अर्थों में दर्शन का मूल अभिप्राय 'विवेक का प्रेम' (लव ऑफ़ विज़डम) है। यह सारांशतः राधाकृष्णन के दृष्टिकोण को बतलाता है। वह मौलिक रूप से विवेक के प्रेमी थे और इस बात का उनके लिए कोई महत्त्व नहीं था कि इस विवेक की उत्पत्ति पश्चिम में हुई या पूर्व में। ब्रह्मविज्ञान में बाल की ख़ाल निकालने वाली कर्कश टिप्पणियों से वे दूर रहे तथा सीधी राह पर बढ़ते रहे। उन्होंने अनुभव किया कि धर्मों, दर्शनों के विश्व भंडार में मस्तिष्क को समृद्ध करनेवाले तत्त्व निहित हैं और किसी को मात्र विवादों में अपने समय को नष्ट नहीं करना चाहिए। समय की तात्कालिक आवश्यकता यह थी कि समृद्ध अतीत को उत्सुक वर्तमान के लिए बोधगम्य बनाया जाय और उसे एक समग्र संरचना में संगठित किया जाय, जो कि अनेक सदियों में विभाजित हो गया था।

इस दृष्टिकोण ने ही विद्वत्ता की दुनिया में भारतीय दर्शन पर पहली बार अंग्रेज़ी में लिखनेवाला एक लोकप्रिय लेखक तथा वक्ता तैयार किया। भारतीय दर्शन पर इनके दो ग्रन्थ सचमुच ही युगान्तरकारी थे। शिक्षित भारतीयों का बहुमत, जो कि न तो पारम्परिक शिक्षा से परिचित था और न संस्कृत शिक्षा से, इन ग्रंथों के माध्यम से अपनी दार्शनिक विरासत से परिचित हो सका। खोखली विद्वत्ता के प्रदर्शन को राधाकृष्णन ने ईमानदारी से नकार दिया। उन्होंने भारत की दार्शनिक पद्धतियों की प्रचुर विषमताओं पर प्रकाश नहीं डाला। भारतीय दर्शन का परिचय कराते हुए उन्होंने पश्चिम के लिए एक संयुक्त मोर्चा प्रस्तुत करना चाहा, अतः भारत भूमि पर विकसित होने वाली विविध तात्त्विक (मेटाफ़िजिकल) प्रणालियों की आध्यात्मिक एकता को रेखांकित करने में वे कभी नहीं थके। उनकी गहन पाण्डित्यपूर्ण कृतियाँ, पाठकों पर प्रेरणाप्रद प्रभाव डालती थीं। जवाहरलाल नेहरू ने 1944 में जब वे बन्दी थे, स्पष्ट रूप से स्वीकार किया :

"कुछ दिन पूर्व मैंने अचानक सोचा कि राधाकृष्णन के *इण्डियन फ़िलॉसॉफ़ी* (भारतीय दर्शन) को पढ़ूँ। मैंने प्रस्तावना को पढ़ना तथा अन्य अध्यायों का सामान्य

अवलोकन करना चाहा था। किन्तु शुरू करने के बाद मैं विचारों के इस अपूर्व अनुभव के वशीभूत होता गया और अब मैं इसमें उलझ गया हूँ।"

जवाहरलाल नेहरू ने *भारत : एक खोज ('डिस्कवरी ऑफ इण्डिया)* लिखने में मदद के लिए भारतीय दर्शन का भारी ऋण स्वीकार किया है। प्रोफ़ेसर के. आर. श्रीनिवास आयंगर कहते हैं : 'वास्तव में, राधाकृष्णन के ग्रन्थ न तो अत्यधिक असंगठित तथा अनियंत्रित हैं और न ही अत्यधिक संकीर्ण और चयनात्मक। सही आकार, सही उपागम, सही शैली के साथ वे दोहरी विशेषता रखते हैं—भारतीयों के लिए भारतीय दर्शन की व्याख्या तथा भारतीय दार्शनिक विचार को मुहावरे के रूप में पश्चिम के लिए बोधगम्य और आकर्षक बनाते हुए इसकी व्याख्या करने की क्षमता यहाँ विचार तथा अनुभव दोनों दक्षतापूर्वक कार्य करते देखे जा सकते हैं, और विशाल समझ बोधगम्यता तथा सुस्पष्टता के साथ बराबर चलती है, और दार्शनिक लेखन में ऐसा एक साथ यदा-कदा ही देखा जा सकता है।

भारतीय दर्शन के प्रकाशित हो जाने के बाद हम निम्नलिखित शास्त्रों के विषय में आसानी से बातचीत कर सकते हैं : वैदिक आरम्भ तथा औपनिषदिक तत्त्वमीमांसा, लोकायत का भौतिकवाद, जैनों का बहुलवादी यथार्थवाद आरम्भिक बौद्ध धर्म का नीतिशास्त्रीय आदर्शवाद, भगवद्गीता का आस्तिकवाद, बौद्ध धर्म के अनेक पन्थ, न्याय का तार्किक यथार्थवाद, वैशेषिक का परमाणविक बहुलवाद, सांख्य पद्धति, पतञ्जलि का योग, पूर्व मीमांसा, ब्रह्मसूत्र, शंकर का अद्वैत, रामानुज का ईश्वरवाद, माधव का द्वैतवाद, शाक्तवाद, शैव सिद्धांत तथा वल्लभ और चैतन्य का वैष्णववाद। पाठकगण कहीं असंख्य प्रणालियों के ज्ञान से दूर न रह जाएँ, राधाकृष्णन ने उन्हें भारतीय दर्शन की मूलभूत एकता से अविलम्ब परिचित कराया है :

> "वे क्रमशः मन्द-बुद्धि (मन्दाधिकारी), औसत-बुद्धि (मध्यमाधिकारी) तथा तीक्ष्ण-बुद्धि (उत्तमाधिकारी) की ज़रूरतों के अनुकूल हैं। विभिन्न विचार एक ही इकाई से निकले हुए हैं और एक पूर्ण अंगभूत, समस्त आत्मसमाहित सार्वभौम से सम्बन्ध रखते हैं। ब्रह्माण्ड की कोई भी प्रणाली पूर्ण नहीं मानी जा सकती यदि वह तर्क और भौतिकी, मनोविज्ञान और नीतिशास्त्र, तत्त्वमीमांसा और धर्म के विभिन्न पक्षों से रिक्त हो। भारत में विकसित चिन्तन की प्रत्येक प्रणाली ज्ञान, प्रकृति और मन की व्याख्या, आचार तथा धर्म के अपने निजी सिद्धान्त की माँग करती है।"

इण्डियन फिलॉसॉफ़ी (भारतीय दर्शन) एक समृद्ध संस्कृति को प्रेरित करने वाले भूभाग के कवि-सुलभ आह्वान के साथ शुरू होता है—इसे हिमालय की पर्वत श्रेणियों तथा तीन ओर से समुद्रों ने सुरक्षा प्रदान की। उदार प्रकृति ने जीवन

की मधुर शालीनताओं के विकास के लिए आवश्यक अवसर प्रदान किया और इस तरह भारत ने अपना निजी दार्शनिक चिन्तन उत्पन्न किया, जोकि पश्चिम की प्राचीन सभ्यताओं से प्रभावित नहीं था। यह किसी अन्य दर्शन से भिन्न है और आध्यात्मिक भावना से ओतप्रोत है। यह जीवन से विकसित हुआ है और इससे कभी दूर नहीं रहा। भारतीय दर्शन सर्वाधिक सहिष्णु भी है। राधाकृष्णन कहते हैं, इसने कभी भी विवेक का त्याग नहीं किया :

> "यह एक विलक्षण विरोधाभास है, और फिर भी इस स्पष्ट सत्य से अधिक कुछ नहीं है कि एक व्यक्ति का सामाजिक जीवन जाति की कठोरताओं से बँधा हुआ है, और वह विचार के मामलों में भ्रमण करने के लिए स्वतन्त्र है। विवेक स्वतन्त्रतापूर्वक उन पन्थों की आलोचना-प्रत्यालोचना करता है जिनमें मनुष्य जन्म लेते हैं इसीलिए भारत भूमि में विधर्मी, सन्देहवादी, अविश्वासी, विवेकी तथा स्वतन्त्र चिन्तक, भौतिकवादी तथा सुखवादी सभी फलते-फूलते हैं।"

भारतीय दर्शन को निदानात्मक अलगाव में नहीं समझा जा सकता और उसकी प्रणालियों के विकास को रेखांकित करने के लिए ऐतिहासिक उपागम की आवश्यकता है। राधाकृष्णन ने कुछ व्यापक विभाजन किया है : वैदिक काल (1500 ई. पू.—600 ई. पू.), महाकाव्य काल (600 ई. पू.—200 ईसवी) तथा सूत्र एवं शास्त्रीय काल (200 ईसवी से)।

वैदिक काल वेदों-उपनिषदों के मंत्रों को समाहित करता है। इन मन्त्रों की विभिन्न पारम्परिक व्याख्या की गई है और राधाकृष्णन ने इसके अतिरिक्त कुछ आधुनिक व्याख्याओं पर दृष्टि डाली है। श्रीअरविन्द द्वारा प्रस्तुत अन्तर्दर्शी व्याख्या का ज़िक्र राधाकृष्णन ने किया है। परन्तु, यद्यपि वे महान भारतीय रहस्यवेत्ता (श्रीअरविन्द) के प्रति श्रद्धावनत हैं, फिर भी अपना मत प्रकट करने में संकोच नहीं करते :

> "यदि हम पाते हैं कि यह विचार न केवल यूरोपीय विद्वानों के आधुनिक विचारों का विरोधी है बल्कि 'सायण' तथा पूर्व-मीमांसा की पद्धति की पारम्परिक व्याख्याओं तथा वैदिक व्याख्या की सत्ता का भी विरोध करता है, तो हमें श्री अरविन्द घोष का अनुकरण करने से हिचकना चाहिए, हालाँकि उनका विचार उत्तम हो सकता है। यह मानना ठीक नहीं है कि भारतीय चिन्तन की समग्र प्रगति वैदिक मन्त्रों की सर्वोच्च आध्यात्मिक सच्चाइयों से दूर स्थिर रूप से लगातार गिरती जा रही है। बल्कि मानव विकास की सामान्य प्रकृति के अनुरूप है। यह मानना अपेक्षाकृत आसान है कि बाद के धर्म और दर्शन

> प्रारम्भिक मानव-मस्तिष्क के अपरिष्कृत प्रस्तावों तथा प्रारम्भिक नैतिक विचारों एवं आध्यात्मिक आकांक्षाओं से उत्पन्न हुए हैं, न कि किसी मौलिक पूर्णता (ओरिजिनल परफ़ेक्शन) की अवनति के कारण।"

तथापि राधाकृष्णन मन्त्रों को इस दृष्टि से नहीं देखते कि वे अपरिष्कृत रचनाओं से अधिक कुछ नहीं हैं। वे उन प्रारम्भिक वैदिक आर्यों की काव्यात्मक आत्माओं से विवेक का प्रकाश पाते हैं, निस्सन्देह ईरानी जरथ्रुस्त्रों (पारसियों) की वंशावली के थे। वैदिक देवकुल के विषय में लिखते हुए वे पाठक को पाश्चात्य लेखकों की बौद्धिक रचनाओं को पढ़ने के लिए उकसाते हैं। आकाश का देवता वरुण, ग्रीक के औरानोस तथा जरथ्रुस्त्रों के अहुरमज़्द की बराबरी में दिखाया गया है। वरुण तथा अग्नि जैसे देवताओं को तो आसानी से वर्णित किया जा सकता है, पर 'ऋत्' (Rta) की अवधारणा से कोई क्या समझेगा? इस सन्दर्भ में निम्नलिखित शब्दावली से काफ़ी संकेत मिलता है :

> "'ऋत्' से विश्व की व्यवस्था का संकेत मिलता है। प्रत्येक वस्तु जो कि ब्रह्माण्ड में व्यवस्थित है, अपने सिद्धान्त के लिए ऋत् रखती है। यह प्लेटो के प्रत्ययों के अनुरूप है। अनुभव की दुनिया ऋत् की एक छाया या प्रतिविम्ब है—एक स्थायी यथार्थता, जो कि परिवर्तन के तमाम कोलाहलों में अपरिवर्तित बनी रहती है। ब्रह्माण्ड (सार्वभौम) विशिष्ट से पहले है, और इसीलिए वैदिक मनीषी सोचता है कि ऋत् समस्त घटनाओं के प्रदर्शन से पहले है।"

हीगेल तथा वर्ड्सवर्थ से लिये गये उद्धरण पश्चिमी पाठकों के लिए सहायक होते हैं। वैदिक सूर्य के बारे में लिखते हुए राधाकृष्णन ने प्लेटो की *रिपब्लिक* में वर्णित सूर्य-पूजा का सन्दर्भ दिया है। उषा (यूनानी EOS) उन्हें रस्किन के उद्धरणीय अंश की याद दिलाती है : "न्यायानुसार चिंत्य सृष्टि के लिए कोई भी रहस्यमयता इतनी गहन नहीं है, जितनी कि वह उषा-काल की।" अदिति देवों की माता—अनेक्सीमेन्डर के अनन्त रूप में देखी जाती है, जबकि मातरिश्वन प्रोमेथियस तथा सोम ग्रीक डायोनिसस से साम्य रखते हैं। जैसे-जैसे अध्ययन का क्रम वैदिक बहुदेववाद से एकदेववाद की ओर प्रगति करता है, नीरसता का क्षणांश भी सामने नहीं आता। न तो उसमें उस रंगवर्णिता का अभाव है, जो समस्त वैदिक ब्रह्माण्ड विज्ञान ने तर्क में उत्पन्न किया है। जाति का उद्भव भी है। पुरोहिताई जो कि वैदिक संग्रहों की रक्षा के लिए एक पृथक् व्यवसाय था, अब एक पृथक् जाति (पुरोहित) बन गयी थी। जाति-व्यवस्था के प्रस्तुतीकरण के साथ ही मूल्याधारित जीवन का स्पष्ट ह्रास देखने को मिला। जाति-व्यवस्था ने स्वतन्त्र चिन्तन को दबाने की तथा चिन्तन की गति को मन्द करने की कोशिश की। नैतिक स्तर गिर गया। जो व्यक्ति जाति

के नियमों का उल्लंघन करता था, वह विद्रोही तथा जातिबहिष्कृत कहा जाता था। शूद्र सर्वोच्च धर्म से बहिष्कृत थे। पारस्परिक अवमानना बढ़ गयी।

जीवन का धार्मिक और दार्शनिक पथ प्रशस्त करने वाले अपने विचार को ध्यान में रखते हुए राधाकृष्णन ने उपनिषद्-काल को लोगों की आध्यात्मिक चेतना में एक निश्चित उन्नति के रूप में देखा। यह उनके लिए निश्चित रूप से कुंठित करने वाली बात थी कि ऐसे ऐतिहासिक ज्ञान के लिए उपनिषद् के विचारकों के व्यक्तिगत जीवन के विषय में न जानें। ऐसा अध्ययन धार्मिक जीवन से अद्भुत दर्शनों की भाँति निश्चित ही सहायक हो सकता था। विशेष रूप से राधाकृष्णन के अनुसार क्योंकि उपनिषद् वेदों के लिए सहायक नहीं है।

राधाकृष्णन उपनिषदों का अध्ययन तत्त्वमीमांसा (मेटाफ़िजिक्स) तथा नीतिशास्त्र (इथीक्स) के रूप में करते हैं। परम यथार्थ की खोज के लिए 'आत्म' (सेल्फ़) की खोज से प्रारम्भ करना चाहिए। उपनिषदों द्वारा आत्म-विश्लेषण को भारत के आध्यात्मिक इतिहास में विद्वानों तथा धर्म विज्ञानियों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से विवेचित किया गया है। 'आत्म' क्या है?

> "उपनिषद् आत्म को शरीर, अथवा चेतना-धारा से जोड़ने को अस्वीकार करते हैं। आत्म कोई संबंध नहीं जो संबंधों का एक आधार चाहता है, न ही यह अन्तर्वस्तुओं का संयोजन है, जो कि इसके जोड़क अभिकर्ता के अभाव में अवोधगम्य है। हम एक सार्वभौम चेतना की सच्चाई को स्वीकार करने के लिए बाध्य हैं, जो कि चेतना की विपय-वस्तुओं को संयोजित करती है तथा इन विषय-सूचियों के न रहने पर भी इसी तरह स्थिर रहती है यह मौलिक पहचान, जो कि आत्म तथा अनात्म (नॉट-सेल्फ़) दोनों की पूर्व कल्पना है, 'आत्मा' कहलाती है। इसकी यथार्थता पर किसी को सन्देह नहीं हो सकता।"

आत्म अथवा आत्मा आत्मनिष्ठ (आत्मपरक) यथार्थता है और ब्राह्मण वस्तुनिष्ठ (विपयपरक) हैं। ब्राह्मण आनन्द हैं। यद्यपि उपनिपद् के मनीपियों की जीवनी-विषयक सामग्री उपलव्ध नहीं है पर जो कुछ उपलव्ध है, उसका राधाकृष्णन ने अच्छा इस्तेमाल किया है। याज्ञवल्क्य और उनकी दो पत्नियों—मैत्रेयी तथा गार्गी के बीच विस्तृत वाद-विवाद का उपयोग यह सिद्ध करने के लिए किया गया है कि नैतिक जीवन ईश्वर केन्द्रित जीवन है, 'एक ऐसा जीवन जो मानवता के लिए भावूपर्ण प्रेम तथा उत्साह रखता है, ससीम के माध्यम से असीम को पाना चाहता है, तथा तुच्छ स्वार्थों के लिए केवल स्वार्थपूर्ण कर्म नहीं करता।' राधाकृष्णन ने उपनिषदों के अध्ययन में असीम के वाद वुद्ध के मठवादी वीज को देखा :

> "आदर्श रूप में सुन्दर तथा निष्कलंक रूप में पवित्र (शुद्ध) बनने की आत्मा की उन्मुक्त आकांक्षा स्थान, समय और अनुभव-शृंखलाओं से बद्ध वस्तुओं द्वारा पूर्ण नहीं होती। अनेक ऐसे लोग हैं जो परम योग्य अस्तित्व के आदर्श को अन्य जीवों (सत्ता) के प्रेम में अनुभव करना चाहते हैं। जब तक यह सत्ता (बीइंग) एक स्थान और समयबद्ध मानव 'आत्म' है, तब तक आदर्श कभी प्राप्त नहीं होता। अनेक ऐसे लोग हैं जो निर्धनता से आत्मा की मुक्ति तथा जीवन की पवित्रता पाने के लिए अपनी पत्नी, बच्चे, घर-सम्पत्ति सब छोड़कर भिक्षु के रूप में बाहर चले गये। भिक्षुओं के इस समूह ने, जिन्होंने उन बेड़ियों को तोड़ दिया, जो उन्हें गृह जीवन से बाँधती थीं। बौद्धों के मठवाद का मार्ग तैयार किया।"

तथापि, कठोर अत्यन्त व्यवस्थाओं का निर्माण चार्वाक, जैन, तथा बौद्धों ने किया जो नीतिशास्त्र पर ज़्यादा ज़ोर देते थे। परन्तु यह सब सामान्य जनता की गहन आध्यात्मिक इच्छाओं और भावनाओं को कोई पोषण प्रदान नहीं कर सकता। लोग उस पर अपना कुछ नियन्त्रण चाहते थे और इसी तरह भारतीय धर्म तथा दर्शन के इतिहास में 'इष्ट देवता' की अवधारणा का विकास हुआ :

> "भगवद्गीता में श्रीकृष्ण को विष्णु के अवतार रूप में दिखाया गया है, वैसे ही जैसे उपनिषदों में पंचरात्र व्यवस्था के अनन्त ब्राह्मण, श्वेताश्वतर तथा अन्य परवर्ती उपनिषदों का शैववाद, तथा बौद्ध धर्म का महायान, जहाँ पर बुद्ध एक शाश्वत देवता बन जाते हैं, ये सभी इस धार्मिक प्रतिक्रिया से संबंधित हैं।"

यद्यपि राधाकृष्णन ने जैन दर्शन का सुविज्ञता से विश्लेषण करते हुए इसकी तत्त्व-प्रणाली की तुलना लीब्नीज़ के चिदणुवाद (मोनाडिज़्म) तथा बर्गसां के सृजनात्मक विकासवाद के साथ की है। यह स्पष्ट है कि उनका हृदय गौतम बुद्ध के व्यक्तित्व द्वारा जीत लिया गया है। उनके अध्ययन में 'भारतीय दर्शन' के कुछ उत्कृष्टतम पक्ष बौद्ध धर्म के उस वातावरण से सम्बद्ध हैं, जिन्हें व्यक्ति के जीवन में विचार का साक्षात् अवतार माना जाता है। राधाकृष्णन अमूर्त दर्शन में विश्वास नहीं करते थे। ब्रिटिश अकादेमी में बुद्ध पर उनका व्याख्यान होने के बहुत पहले *इण्डियन फिलॉसॉफ़ी* (भारतीय दर्शन) का उनका प्रथम ग्रन्थ बुद्ध को निस्संकोच श्रद्धांजलि स्वरूप प्रस्तुत हो चुका था :

> "बुद्ध महान अपने प्रचण्ड आत्मसंयम, स्वप्निल सादगी, सकोमल शान्ति तथा गहन प्रेम के साथ पूर्व की आत्मा का सदैव प्रतिनिधित्व करते हैं। उन्हें

अनेक नामों से जाना जाता है : शाक्यमुनि, शाक्यों का पण्डित, तथागत; पर वे ही थे, जो सत्य तक पहुँचे।"

राधाकृष्णन बुद्ध को एक सुधारक के रूप में देखते हैं, किसी नये धर्म के निर्माता के रूप में नहीं। बौद्ध धर्म का भारत 'सनातन धर्म' है। इसने अपने अवांछित उपचयों (अभिवृद्धियों) को स्पष्ट किया तथा उन्हें समय की आवश्यकताओं के अनुकूल बनाया। उनके अनुसार, गौतम बुद्ध ने उपनिषदों से लेकर वैदिक बहुदेववाद तक उनकी उलझन को दूर किया, ज्ञानातीत यथार्थता पर उपनिषदों के वक्तव्यों को पृष्ठभूमि में ढकेल दिया, तथा अपने नीतिगत सार्वभौमवाद को महत्त्व दिया। एक नये दृष्टि विन्दु से उपनिषदों के विचार का पुनर्कथन केवल 'प्रारम्भिक बौद्धवाद' है। निश्चय ही उपनिषदों तथा बौद्ध धर्म के बीच अनेक सामान्य चीज़ें हैं, जैसे वैदिक सत्ता की महत्त्वहीनता, कर्म का सिद्धान्त, विश्व की नश्वरता का सिद्धान्त, वैयक्तिक आत्म तथा सिद्धि प्राप्ति की सम्भावना।

परन्तु उपनिषद् के शिक्षकों के विपरीत बुद्ध तत्त्व मीमांसक समस्याओं पर चिन्तन को अस्वीकार करते हैं। यह पक्ष राधाकृष्णन को श्रद्धा के लिए बाध्य करता है। जब एक धर्म-सुधारक एवं आध्यात्मिक प्रमुख चरम पर टिप्पणी करने से वचता है, तो यह उसके अनुयायियों के लिए हतोत्साहित करने वाला अनुभव हो सकता है। बुद्ध चुप क्यों थे? क्या वे स्वयं को अस्थिर अनुभव करते थे अथवा भयभीत थे?

चूँकि राधाकृष्णन गौतम बुद्ध को एक अस्पष्ट स्वप्नद्रष्टा अथवा ढोंगी मानकर बहिष्कृत नहीं कर सकते थे, अतः वे मानते हैं कि बुद्ध इसलिए चुप थे क्योंकि वे उपनिषद् की ब्राह्मणविषयक अवधारणा को एक असीम चरम क्षेत्र के रूप में अस्वीकृत नहीं कर सकते थे। वास्तव में उन्होंने अवर्णनीय चरम क्या है, मात्र यह वताने के लिए आनुभाविक सत्ता की किसी श्रेणी का प्रयोग नहीं करना चाहा। समय की आवश्यकता थी कि जिसे सिद्ध नहीं किया जा सकता, उसकी सिद्धि के लिए व्यर्थ चिन्तन न करके, व्यक्ति स्वयं के अपने जीवन के माध्यम से उसे सिद्ध करने में लगाय :

> "अतः बुद्ध ने अपने अनुयायियों को प्रणालियों के संघर्ष से बाहर आने का उपदेश दिया और उनका ध्यान धर्म (धार्मिक जीवन) की ओर मोड़ा ताकि सत्य की प्राप्ति हो सके। जब हम स्वयं को पूर्वाग्रहों से मुक्त कर लेंगे तो सत्य हम में स्वयं कार्य करेगा, यथार्थता स्वयं हमारे भीतर प्रतिबिम्बित होगी तथा हमारी सत्ता को संशोधित करेगी। सत्य की उपलब्धि स्वयं जीवन में ही होनी है। यह कोई प्रशिक्षित विवाद का मसला नहीं है, बल्कि एक आध्यात्मिक आवश्यकता है।"

बुद्ध के बाद उनके अनुयायियों ने ठीक ऐसा ही किया। फलतः समस्त भारत में दर्शन के विविध पन्थ उत्पन्न हुए जैसे सौत्रान्त्रिक, वैभाषिक, योगाचार तथा माध्यमिक। इस प्रकार शंकर के आगमन का भी उपयुक्त समय आ पहुँचा।

भारतीय दर्शन का दूसरा खण्ड न्याय तथा वैशेषिक जैसी विविध दार्शनिक प्रणालियों का व्यापक विवेचन करता है। यहाँ चिन्तन तात्त्विक (मेटाफ़िजिकल) कुतर्कों द्वारा वार-बार बाधित होता है, परन्तु राधाकृष्णन ने इन सभी को बड़ी सहजता से पूरा किया है। संस्कृत में दार्शनिक शैली की एक वास्तविक वृष्टि होती है, जो कि अंग्रेज़ी भाषा की साँस प्रायः रोक देती है। प्रकाशक संपादक—मूरहेड के समक्ष राधाकृष्णन की इस शैली से समस्या उठ खड़ी हुई, क्योंकि राधाकृष्णन ने रोमन लिपि में संस्कृत शब्दों तथा मुहावरों की इतनी भरमार कर दी थी कि इससे लेखन को तो आकर्षक प्रस्तुति मिली, किन्तु छपाई की क़ीमत काफ़ी वढ़ गई। तथापि स्टेनले उनविन ने देखा कि इस पुस्तक की भावी सम्भावनाएँ हैं और इसीलिए *इण्डियन फिलोसॉफ़ी* (भारतीय दर्शन) उस शैली का अग्रदूत सिद्ध हुआ, जो कि भारतीय प्रतिपादकों द्वारा आज भी अपनी शैलियों (क्लासिक) के प्रतिपादन में सामान्यतः प्रयुक्त होती है।

अपनी पुस्तक में वर्णित सभी दार्शनिक प्रणालियों में वौद्ध धर्म की तरह शंकर का अद्वैतवाद भी राधाकृष्णन के लिए विशिष्ट महत्त्व रखता है। राधाकृष्णन ने इस दर्शन के चित्रण को स्वयं अपने जीवन-दर्शन के चित्रण के रूप में लिया। राधाकृष्णन ने सदैव साग्रह यह कहा कि रोज़मर्रा की ज़िन्दगी से ऊपर उठने के लिए धार्मिक-दार्शनिक जीवन अत्यावश्यक है। परन्तु न तो धर्म और न ही दर्शन को व्यक्ति की उन्नति में वाधक वनना चाहिए। वह धर्म जो जीवन की परिवर्तित परिस्थितियों को स्वीकार नहीं करता सदा बाधक होता है और किसी के आध्यात्मिक विकास में भी सहायक नहीं होता। अतः प्रत्येक युग को, निस्संदेह अपनी पारम्परिक विरासत के सार तत्त्वों को भुलाये विना उपलब्ध व्योरों को पुनर्व्याख्यायित करना चाहिए। बुद्ध के वाद शंकर ही थे जिनसे राधाकृष्णन ने इस विचार को पुष्ट किया।

जिन दिनों दृश्यपट्ल पर शंकर का आविर्भाव हुआ, उन दिनों भारत में असंख्य मतों, सम्प्रदायों, अन्धविश्वासों तथा बाल की ख़ाल निकालने वाली तत्त्व मीमांसाओं का बोलबाला था :

> "तभी एक आध्यात्मिक सुधारक तथा परम्पराबद्ध मूल्यों के उत्सुक हिमायती के रूप में शंकर का आगमन हुआ। उन्होंने अपने युग को पुराणों के पण्डित्य-विलास के उपनिषदों के गूढ़ सत्य की ओर लौटाने का प्रयत्न किया। उच्चतर जीवन के लिए आत्मा को नेतृत्व देने वाली आस्था शक्ति उनके

लिए परीक्षा वन गई। अपने युग की आध्यात्मिक दिशा को निर्धारित करने की प्रेरणा का अनुभव किया, जो एक ऐसे धर्म-दर्शन को बनानेवाली थी, जिससे कि लोगों की नैतिक तथा आध्यात्मिक आवश्यकताएँ बौद्ध धर्म, मीमांसा, तथा भक्ति की अपेक्षा बेहतर ढंग से पूरी हो सकें। देववादी भावना के कुहासे में सत्य को छिपा रहे थे। अपने रहस्यवादी अनुभव की प्रतिभा के कारण जनता की व्यावहारिक ज़रूरतों के प्रति वे वेहद उदासीन थे। कर्म पर मीमांसावादी दबाव से आत्मविहीन कर्मकाण्ड का विकास हुआ। कोई भी गुण जीवन के गहन जोखिमों का सामना कर सकता है, लेकिन जीवित तभी रह सकता है जव कि यह चिन्तन का सुन्दर पुष्प हो। शंकर के मत में, केवल अद्वैत दर्शन ही संघर्षरत मतों के सत्य के प्रति न्याय कर सकता है।"

शंकर के अद्वैतवाद का तात्त्विक स्वरूप उनके एक कवि, एक रहस्यवादी तथा एक राजनीतिज्ञ होने के मार्ग में आड़े नहीं आया। कुछ लोग उनसे भी अधिक सार्वभौम रह चुके हैं। शंकर के अद्वैत के प्रति राधाकृष्णन का आकर्षण रामानुज के विशिष्टाद्वैत के प्रति उनकी रुचि में वाधक नहीं बनता। दो आध्यात्मिक नक्षत्रों का वैषम्यपूर्ण विश्लेषण, विचारों और शैलियों के संतुलन के लिए पूर्णतः पाण्डित्यपूर्ण है :

> "प्रत्येक की सर्वोत्तम विशेषताएँ दूसरे की ख़ामियाँ थीं। शंकर का सुस्पष्ट नीरस तर्क उनकी पद्धति को धार्मिक रूप से अनाकर्षक बनाता है, रामानुज की दूसरी दुनिया की सुन्दर कहानियाँ, जिन्हें वे विश्वास के साथ सुनाते हुए कहते हैं कि संसार की उत्पत्ति के समय व्यक्ति को व्यक्तिगत रूप से सहायता मिली, दृढ़ विश्वास नहीं जगातीं। शंकर की विध्वंसक तर्कविद्या, जो कि सबको ईश्वर मनुष्य तथा विश्व को एक चरम चेतना से जोड़ती है, रामानुज के समर्थकों को तनिक भी पसन्द नहीं आई। शंकर के समर्थक उनसे भी आगे बढ़ गये और उनके सिद्धान्त को ख़तरनाक रूप से नास्तिकतावादी मानसिकता के निकट ले आये।"

जब हम *इण्डियन फिलॉसॉफी* (भारतीय दर्शन) के दोनों खण्डों को ध्यान से देखते हैं, तो लगता है कि यह व्यवस्था के हामी लोगों का चतुर प्रक्षेपण ही है, जो हमें राधाकृष्णन की प्रस्तुति में एक सशक्त चुम्बक की तरह खींचता है। कुल मिलाकर, भारतीय दर्शन कुछ सुपर कम्प्यूटरों (उत्तम गणकों) द्वारा प्रलेखों का प्रकटन नहीं था। चिन्तन तथा आध्यात्मिक हस्तियाँ भी हमारे अध्ययन में उतनी ही रुचि ले रही हैं, जितनी की स्वयं व्यवस्था। वे धर्म और दर्शन के मिलन स्थल हैं जैसा कि राधाकृष्णन *भारतीय दर्शन* के निष्कर्ष में कहते हैं :

"वशिष्ठ और विश्वामित्र, याज्ञवल्क्य और गार्गी, बुद्ध और महावीर, गौतम और कणाद, कपिल और पतञ्जलि, बादरायण और जैमिनी तथा शंकर और रामानुज के नाम इतिहासकारों के लिए केवल विषय-वस्तु नहीं हैं बल्कि व्यक्तित्व विषयक शैलियाँ हैं। उनके साथ दर्शन, चिन्तन तथा अनुभव पर आधारित विश्व-दृष्टि है। चिन्तन जब स्वयं अन्त के परे सोचता है तो वह जीवन के सर्वोच्च परीक्षण द्वारा परीक्षित होकर तथा जीवन जीकर धर्म बन जाता है। उसी समय दर्शन का शास्त्र एक धार्मिक कर्तव्य की पूर्ति करता है।"

पाठकों की रुचि को जाग्रत बनाये रखने के लिए राधाकृष्णन ने बहुत-सी शैलियों का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ, समस्त जैन दर्शन संक्षिप्त वाक्यों की एक शृंखला में प्रस्तुत किया गया है :

"यदि मुक्ति प्राप्त करनी है तो अवर पदार्थ को उच्चतर आत्मा द्वारा वश में रखना होगा। जब आत्मा उस भार से मुक्त रहती है जो इसे नीचे ले जाता है तो यह ऊपर सर्वोच्च ब्रह्माण्ड की ओर उठती है, जहाँ पर मुक्त आत्माएँ वास करती हैं। व्यक्ति का आमूल आन्तरिक परिवर्तन स्वतन्त्रता का मार्ग है। व्यक्ति के स्वभाव में रूपान्तरण लाने तथा नये निर्माण को रोकने के लिए नैतिकता एक आवश्यक उपकरण है। निर्वाण का मार्ग जिन (जैन) के त्रिरत्नों में विश्वास रखने में है, अर्थात् उनके सिद्धान्त तथा पूर्ण आचार के ज्ञान में।"

समस्त पृष्ठों पर संस्कृत शब्दों और मुहावरों का व्यापक रूप में प्रयोग करते हुए राधाकृष्णन ने अंग्रेज़ी साहित्य से भी उपयुक्त उद्धरण दिये हैं। यहाँ पर वे जैन मानवतावाद को रेखांकित करने के लिए कॉलरिज के 'एंसिएण्ट मेरीनर' का उद्धरण देते हैं तथा विश्वास दिलाते हैं कि भाग्य के अदृश्य हाथों में हम पूर्णतः असहाय नहीं हैं :

"हम पूरी तरह भाग्यवाद के हाथों में नहीं है, यद्यपि कर्म हमारे समस्त वर्तमान जीवन को, जोकि हमारे अधीन है, निर्धारण करता है तथा अतीत के प्रभावों में भी सुधार कर सकता है। हमारे लिए यह सम्भव है कि अपने असाधारण प्रयासों द्वारा कर्म के प्रभाव को टाल दें। यहाँ पर ईश्वर का कोई हस्तक्षेप नहीं है। परम संयमी तपस्वी स्वेच्छाचारी देवता के अस्थिर चित्त से अभिमन्त्रित नहीं होते, बल्कि ब्रह्माण्ड की एक व्यवस्था से होते हैं, जिसके कि वे स्वयं एक अंग हैं। "

जब भारतीय दर्शन ऐसे आकर्षक तरीक़े से प्रस्तुत किया गया तो कोई और

अधिक भारतीय विरासत को नज़रअंदाज़ नहीं कर सकता था। *'कंटपररी इण्डियन फ़िलॉसफी' (समसामयिक भारतीय दर्शन,* 1936) जिसका राधाकृष्णन ने मूरहेड के साथ मिलकर संपादन किया था, *भारतीय दर्शन* का उपयुक्त अनुकरण था, जोकि चैतन्य-आन्दोलन पर समाप्त हुआ था। तब तक महान् दार्शनिकों का समय समाप्त नहीं हुआ था, कुछ महत्त्वपूर्ण चिन्तक तब भी मौजूद थे, जैसे कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर, श्रीअरविन्द तथा भगवान दास। *'द हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ़'* (जीवन की हिन्दू-दृष्टि 1927) एवं *'द आइडियलिस्टिक व्यू आव लाइफ़' (जीवन की आदर्शवादी दृष्टि,* 1932) मुख्यतः अद्वैत वैदान्त पर अर्थपूर्ण प्रस्तुतियां हैं। ये दोनों पुस्तकें मूलतः पाश्चात्य श्रोताओं को दिये गये व्याख्यानों पर आधारित थीं। 'जीवन की हिन्दू दृष्टि' के आते ही एक चुनौती खड़ी हो गयी :

> "यह कहना सही नहीं कि यदि हम प्रकृति की अन्ध-शक्तियों को ओर छोड़ देते हैं, तो इस जगत में कुछ भी गतिमान नहीं रहता जोकि अपने मूल में ग्रीक नहीं है और जो हमारे साथ एक सामान्य जगह पर स्थिर हो जाता हैं लगभग आधी दुनिया उन स्वतन्त्र आधारों पर गतिमान है जिन्हें हिन्दू धर्म ने प्रदान किया है। चीन, जापान, तिब्बत श्याम, बर्मा तथा सिलोन (श्रीलंका) अपने आध्यात्मिक मूल के रूप में भारत को देखते हैं।"

राधाकृष्णन प्रारम्भ में ही स्पष्ट करते हैं कि हिन्दू 'शब्द' मूलतः प्रादेशिक था, सर्वत्र स्वीकृति वाला नहीं। और कि 'हिन्दू धर्म एक व्यापक जटिलता है, किन्तु सूक्ष्म रूप में आध्यात्मिक चिन्तन तथा अनुभूतियों के समूह को एकीकृत करता है।' उन्होंने टिप्पणी की कि हिन्दू धर्म के इस सन्देश के बावजूद कि हम ईश्वर के प्रति अपने ज्ञान को बढ़ायें बहुसंख्यक भारतीयों ने सहिष्णुता के नाम पर अपने अन्धविश्वासों तथा प्रथाओं (रूढ़ियों) को सावधानी से सुरक्षित रखा है। उन्होंने पाश्चात्य श्रोताओं को अपनी बात सरलता से समझाने के लिए भारतीय दर्शन को पाश्चात्य दर्शन के साथ जोड़ने का भी प्रयत्न किया :

> "याज्ञवल्क्य की 'नेति' हमें बर्नार्ड शॉ के 'नेसियो' की याद दिलाती है—एक मन्थर शान्ति की, जहाँ सभी प्रेमी स्वयं को भूल जाते हैं, इससे हमें रूयूसब्रॉक, डायोनीसियस, ऑरोपेजिट एकार्ट तथा बोएम की भी याद आ जाती है।"

हालाँकि ऐसे सन्निधानों का सामान्यतः स्वागत ही हुआ, परन्तु कुछ की भृकुटियाँ भी तनीं। उदाहरणार्थ, अपने विवेचन में पाश्चात्य चिन्तन से तथ्य लेने के लिए पी. टी. राजू ने राधाकृष्णन की आलोचना की, क्योंकि राजू ने इससे भारतीय चिन्तन का अपूर्ण होना माना। रिचर्ड डी. स्मट ने उनके उत्साह को भ्रान्तिपूर्ण अद्वैत में

उनकी व्यक्तिगत अन्तर्दृष्टि के रूप में देखा :

> "शंकर का मत है कि ब्राह्मण के सम्बन्ध में विश्वसनीय प्रमाण या सत्य का स्रोत केवल 'श्रुति' है। श्रुति की शोध विवेक द्वारा की जाती है। क्योंकि विवेक रहित शोध उस सत्य को प्राप्त नहीं कर सकता, जो केवल श्रुति से ही निकल सकता है। तर्कविद्या यहाँ तब तक अशक्त है, जब तक वह पहले श्रुति की सत्ता स्वीकार नहीं कर लेती। और फिर अनुगामी के रूप में उसकी सुबोधगम्यता प्रदर्शित करने के लिए कार्य नहीं करती। शंकर की 'ब्रह्मजिज्ञासा' श्रुतिवाद का एक सशक्त पक्ष है तथा ईसाइयत अथवा इस्लाम के वेदांकित धर्मविज्ञान के समान है।"

परन्तु राधाकृष्णन हमारी पुरातन आस्था को नयी आँखों से देखने की कोशिश कर रहे थे और उन्होंने स्वीकार किया कि 'उनका कृत्य अन्ततः एक व्यक्तिगत विवेचन होगा, कोई अवैयक्तिक सर्वेक्षण नहीं।' तात्कालिक रूप में राधाकृष्णन दर्शन के एक व्याख्याता के रूप में कार्य कर रहे थे, और अपनी कृति *'इण्डियन रिलीजन्स एण्ड वेस्टर्न थॉट' पौर्वात्य धर्म तथा पाश्चात्य चिन्तन,* 1939) में उन्होंने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि पाश्चात्य चिन्तन पौर्वात्य चिन्तन से प्रभावित हुआ। उनकी वृहत् शिक्षा (ज्ञान) पृष्ठ-दर-पृष्ठ हमें अभिभूत करती चलती है, जब वे सहजता से बौद्ध धर्म, वेदान्तिक अद्वैतवाद, प्लूटिनस तथा असीसी के सेंट फ्रांसिस के सहारे प्रवहमान रहते हैं। पूर्व तथा पश्चिम के महान् व्यक्तियों द्वारा प्राप्त की गयी सर्वोच्च आध्यात्मिक जीवनोपलब्धियों को देखने पर हमारे भीतर एक विश्वास उत्पन्न होता है कि यह सब व्यर्थ ही नहीं हुआ है। ये व्यक्ति तथा चेष्टाएँ समस्त मानवता के लिए सहज गति से एक महान उषा-काल की ओर अग्रसर हैं :

> "जो कुछ भी व्यक्ति ने किया है और जाति ने भी, अन्ततः शायद वह इसमें सफल हो और होना भी चाहिए। जब ईश्वर के अवतार की अनुभूति होगी, केवल कुछ व्यक्तियों में नहीं बल्कि समस्त मानवता में, तो हम एक नई सृष्टि में होंगे। स्त्रियों तथा पुरुषों की नयी जाति, परिवर्तित मानवता, नयी समझ तथा पुनर्जन्म, तथा एक नवसृजित विश्व होगा। यह विश्व का भाग्य है, सर्वोच्च आध्यात्मिक आदर्श है। मात्र यही हमारी गहनतम सर्जनात्मक ऊर्जा को जगा सकती है, भावशून्य विवेक से हमें बचा सकती है, रचनात्मक मनोवेग के साथ हमें प्रेरणा दे सकती है, तथा मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक रूप से हमें एक विश्व-साहचर्य (भाईचारा) में एकीकृत कर सकती है।"

5

धर्मग्रन्थों के व्याख्याता

राधाकृष्णन द्वारा किये गये कुछ चुनिन्दा भारतीय धर्मग्रन्थों के अनुवाद तथा व्याख्याएँ दुनिया-भर के लाखों लोगों के लिए प्रेरणा स्रोत रही हैं। उनके द्वारा किया गया *भगवद्गीता* का अनुवाद, जो कि 1948 में प्रकाशित हुआ एक लम्बी प्रस्तावना के साथ संस्कृत मूल का रोमन लिप्यान्तरण है। इसमें विस्तृत टिप्पणियाँ भी समाहित हैं। *गीता* के विषय में अनेक पण्डितों तथा भक्तों द्वारा टिप्पणियाँ की गयी हैं, जिसका भारत के स्वाधीनता संग्राम में महत्त्वपूर्ण स्थान था। कुछ समीक्षायें तो ग्रन्थ ही बन गयी हैं। बाल गंगाधर तिलक के *गीता रहस्य* (मराठी), सुब्रह्मण्य भारती के तमिल अनुवाद तथा श्रीअरविन्द के *गीता पर निबन्ध* (अंग्रेज़ी) बिना उसके शाश्वत सन्देश को क्षति पहुँचाये, गीता की अभूतपूर्व समसामयिक व्यवस्थाएँ हैं। राधाकृष्णन की कृति जो कि शीघ्र ही लोकप्रिय हो गई थी, महात्मा गाँधी की स्मृति को समर्पित है। लेखन की ऐसी दुनिया के प्रति सजग रहते हुए, जिसमें संचार क्रान्ति ने विश्व को एक गाँव बना दिया था, राधाकृष्णन ने अपनी पुस्तक को विश्व-भर के सामान्य पाठकों के लिए सुपाठ्य बनाना चाहा है। अपने प्राक्कथन में वे कहते हैं :

> "आज हम जिस प्रमुख समस्या का सामना कर रहे हैं, वह है मानव-जाति के समन्वय की। इस उद्देश्य के लिए गीता विशेष रूप से उपयुक्त है, क्योंकि यह धार्मिक चेतना के विविध और परस्पर विरोधी स्वरूपों में सामंजस्य का प्रयास करती है, तथा धर्म की मौलिक अवधारणाओं पर बल देती है, जो न तो पुरातन हैं और न ही आधुनिक, बल्कि शाश्वत हैं तथा अतीत, वर्तमान एवं भावी मानवता के मौलिक स्वभाव से सम्बन्धित हैं।"

राधाकृष्णन अपनी पूरी क्षमता से एक सरल संस्करण प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं और इसमें वे अपनी पूरी शक्ति लगा देते हैं। प्रारम्भ में ही वे एक परिचयात्मक लेख लिखते हुए हमारा ध्यान गीता की ओर आकृष्ट करते हैं, इसे वे महायान बौद्धों की दो कृतियों *महायानश्राद्धोत्पत्ति* तथा *सद्धर्मपुंडरीक* का प्रेरणा-स्रोत बताते

हैं। एक जर्मन संस्कृत विद्वान का उद्धरण देते हुए वे कहते हैं कि उसने (जर्मन) *गीता* को एक शाश्वत महत्त्व की कृति कहा है, तथा अल्डस हक्सले ने इसकी प्रशंसा करते हुए कहा है कि '*गीता* चिरस्थायी दर्शन का सर्वोत्तम व्यवस्थित आध्यात्मिक वक्तव्य है।' इसके पश्चात् वे परम्परागत समीक्षकों की शैली तक आते हैं। *गीता* तत्त्वमीमांसा (ब्रह्मविद्या) तथा नीतिशास्त्र (योगशास्त्र) दोनों है तथा यह पुरातन विवेक (प्रज्ञा) से परिचय कराती है। यह विविध प्रणालियों का परिशोधित, लोकप्रिय समन्वय है। इसमें समाहित है : 'यज्ञ की वैदिक पूजा, ज्ञानातीत ब्राह्मण' की औपनिषदिक शिक्षा, भागवत दैववाद और विधिसम्मत धर्मपरायणता तथा सांख्य द्वैतवाद एवं योग चिन्तन।'

विषयवस्तु का निर्धारण करते हुए, जिस पर गीता की रचना हुई, राधाकृष्णन ने अनेक पाश्चात्य आलोचकों का चिन्तन-सन्दर्भ दिया है। (जैसे गार्वे, फर्कुहर, हॉपकिंस, होल्ज़मान, कीथ, बर्नेटर, रुडॉल्फ़ ओटो तथा श्रेडर) अनुवाद तथा समीक्षा के लिए राधाकृष्णन शंकर पर निर्भर करते हैं। परिचयात्मक लेख लिखने में सभी शास्त्रीय समीक्षकों को ध्यान में रखा गया है, और इसलिए हमारे सामने *गीता* का एक समग्र चित्र उपस्थित होता है कि विभिन्न युगों में भारतीयों के लिए *गीता* किस रूप में प्रस्तुत हुई। अतः जब उपनिषद् घोषित करते हैं कि चरम कल्पनातीत है, और गीता स्वयं भी इसे उपनिषद् की ही तरह स्पष्ट करती है, तो यह ग्रन्थ चरम को कल्पनीय परिधि के अन्दर ले आता है :

> "गीता का बल एक व्यक्तिगत देवता (इष्ट) के रूप में चरम पर है जो कि अपनी प्रकृति के द्वारा गोचर विश्व की सृष्टि करता है। वह प्रत्येक जीव के हृदय में रहता है, वह सभी यज्ञों का उपभोक्ता तथा स्वामी है। वह हमारे हृदयों को भक्ति की दिशा में प्रवृत्त करता है तथा हमारी प्रार्थना को स्वीकार करता है। वह मूल्यों का स्रोत तथा पोषक है। पूजा तथा प्रार्थना में वह हमारे साथ व्यक्तिगत सम्बन्धों में प्रवेश करता है।"

परन्तु यहाँ हिन्दुओं के सभी देवताओं में विष्णु को सर्वोत्तम क्यों माना जाता है? राधाकृष्णन इस प्रश्न की गहराई में जाते हैं और पाते हैं कि विष्णु की उपस्थिति सार्वभौम है, वह सर्वव्यापक है। तैत्तिरीय के अनुसार, 'नारायण के लिए हम पूजा करते हैं : वासुदेव के लिए हम चिन्तन करते हैं और विष्णु इसमें हमारी सहायता कर सकता है।' इसी तरह राधाकृष्णन हमें कृष्ण की ऐतिहासिकता का स्मरण दिलाना नहीं भूलते, जो कि *छान्दोग्य उपनिषद्* तथा *महाभारत* में प्रकट होते हैं। वासुदेव कृष्ण भारतीय संस्कृति में एक आवर्तक चरित्र हैं। जैसे कि *गीता* एक ऐतिहासिक चरित्र को सर्वोच्च सत्ता (प्रभु) से जोड़ती है। राधाकृष्णन

कहते हैं कि यह एक सुपरिचित घटना है, क्योंकि पूर्ण जागरूक एक आत्मा स्वयं को सदैव सार्वभौम आत्म के साथ पाती है। ऐतिहासिक कृष्ण युद्धभूमि पर व्याख्यान दे सकते थे, परन्तु स्वयं को एक शाश्वत देवता के रूप में घोषित करने का उन्हें पूरा अधिकार था :

> "कृष्ण द्वारा देवत्व का दावा समस्त गम्भीर आध्यात्मिक जिज्ञासुओं को सामान्य पुरस्कार है, वह कोई नायक नहीं है, जो कि एक समय धरती पर आया और अपने प्रिय मित्र तथा अनुयायी बनाकर यहाँ से चला गया है, अपितु वह सर्वत्र विद्यमान है, हममें से प्रत्येक में है और अपनी तात्कालिक विद्यमानता बताने के लिए वह हमसे बोलने को तैयार है। वह कोई विगत सत्ता नहीं है, बल्कि अन्तर्यामी आत्मा है, हमारी आध्यात्मिक चेतना के लिए एक विषयवस्तु है।"

यह विचार अवतारवाद की समस्या हल करने में राधाकृष्णन की बड़ी मदद करता है। विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के युग में, जबकि सन्देहवाद (संशयवाद) काफ़ी फैल चुका है, 'अवतार का सिद्धान्त' अधिक विश्वसनीय नहीं हो सकता, तब अतीत की व्याख्या कैसे की जाये? वास्तव में यह एक बहुत ही वैध दृष्टिकोण है :

> "विश्व की वस्तुनिष्ठ तथा व्यक्तिनिष्ठ प्रक्रिया परम की उच्चतर तथा निम्नतर प्रकृति की अभिव्यक्ति मात्र है, अब जिसमें भी महत्ता है, सुन्दरता है, सुदृढ़ता है, उसमें प्रभु की उपस्थिति अधिक प्रदर्शित होती है। जब कोई विशेष व्यक्ति आध्यात्मिक गुण विकसित करता है, एक वृहत् अन्तर्दृष्टि तथा उदारता प्रदर्शित करता है तो वह विश्व की न्यायपीठ पर बैठता है तथा एक आध्यात्मिक एवं सामाजिक कायाकल्प आरम्भ करता है, और तब हम कहते हैं कि धर्म की रक्षा तथा अधर्म का नाश करने तथा एक धर्मपरायण राज्य की स्थापना के लिए ईश्वर का अवतार हुआ है। अवसर व्यक्ति के आध्यात्मिक संसाधनों तथा गुप्त देवत्व का प्रदर्शन है। यह दैवी प्रभुत्व का मानव-संरचना की सीमाओं में संकुचन नहीं बल्कि मानव-स्वभाव के दैवी शक्ति के साथ संयोजन द्वारा दिव्य स्तर तक उठ जाना है।"

फिर भी, अवतार का विचार राधाकृष्णन ने त्यागा नहीं है। वे उसे देह में परमांश के रूप में देखते हैं—एक अन्तर्वर्ती प्रदीप्ति स्वरूप जब 'अन्तर्निहित मानव चेतना अजन्मा और अनन्त तक ऊपर उठ जाती है।' यह ऐसा है, जैसे ईश्वर ने हमारे उर्वर शरीर में आने तथा अपना लक्ष्य निर्देशित करने के लिए हमें चुना हो। और यदि आकांक्षी व्यक्ति सचेत, जिज्ञासु तथा पूर्ण आस्था रखे तो ईश्वर

उसे निर्देशित करने में असफल नहीं होता। इसी तरह राधाकृष्णन 'माया' का अर्थ 'माया' (इल्यूशन) ही लगाने के विरुद्ध आगाह करते हैं। माया तो केवल एक 'भ्रम' है!

> "संसार माया नहीं है, यद्यपि हम इसे ईश्वर से असम्बद्ध प्रकृति की एक यांत्रिक अवधारणा मानते हुए (या मानकर) इसके दैवी सारतत्त्व को समझने में असफल रहे हैं। अतः यह एक भ्रान्ति का स्रोत बन गयी है।"

एक आधुनिक व्यक्ति द्वारा प्राचीन धर्मग्रन्थ के विवेचन करने का प्रमुख कारण यह है कि वह इस दुनिया में सम्मान सहित तथा उपयुक्त सोद्देश्यपूर्ण जीवन जीने के लिए मदद चाहता है। एक भग्न कल्पना यथार्थ को सही रूप में समझ सकती है, परन्तु एक भग्न अस्तित्व पर विजय पाने के लिए निर्देशक स्वरूप इसका कोई उपयोग नहीं है। जैसा कि राधाकृष्णन कहते हैं, मनुष्य जिस समस्या से जूझ रहा है, वह है उसके 'व्यक्तित्व का एकीकरण' और इसे देहात्मा की सद्भावनापूर्ण एकता में रखना उनके अनुसार गीता देह और आत्मा को परम (सत्ता) के दो पहलू मानती है। आत्मा की पुष्टि के लिए देह को नष्ट करने की आवश्यकता नहीं है।

ज्ञान और समर्पण के मार्ग, जैसा कि गीता में वर्णित हैं, बड़ी स्पष्टता से हमारे सामने आते हैं। परन्तु यह तो राधाकृष्णन की क्रिया का मार्ग है, जो हमें आकर्षित करता है और शायद इसलिए कि वे इसे ठीक से सन्दर्भित करने में सक्षम हैं। जो भी तात्त्विक सूत्र कृष्ण के उपदेश में निहित हैं, वह (उपदेशात्मक) दृश्य हमारे हृदय में गहरे तक चित्रित है और वह यह कि विषादग्रस्त अर्जुन की समस्या को कृष्ण का निर्देशन किस तरह हल करता है। कृष्ण (उपदेशक) जगत् को माया मानकर उसे अस्वीकार नहीं करते, और न ही वे इस कार्य की एक आवश्यक बुराई के रूप में निन्दा ही करते हैं :

> "वे जगत् में व्यक्ति के सम्पूर्ण सक्रिय जीवन को मान्यता देते हैं, जिसमें शाश्वत आत्मा और उसका आन्तरिक जीवन निहित है। अतः गीता कर्म में जुटे रहने का आदेश पत्र है वह यह बताती है कि सामाजिक होने के नाते व्यक्ति को क्या करना चाहिए, बल्कि एक आध्यात्मिक चेतना सम्पन्न व्यक्ति के रूप में उसका कर्तव्य क्या है। जीवात्मा के त्याग की तरह लोगों की आनुष्ठानिक धर्मनिष्ठा का भी निष्पक्ष विवेचन करती है, जो इसकी आचार संहिता में सम्पन्न किये जाते हैं।"

आधुनिक चिन्तन के अनुरूप राधाकृष्णन हमें यह कहकर आश्वस्त करते हैं कि 'गीता कहती है संसार में रहो और इसे सुरक्षित रखो।' विनाश लीला के सम्बन्ध में वे कहते हैं कि संक्रमण-काल में कोई भी इसमें भाग लेने से नहीं बच

सकता। जब तक कोई इसके परिणामों से स्वयं को असम्पृक्त रख सकता है, साथ ही ईश्वर के प्रति समर्पण को भी क़ायम रख सकता है, तब तक वह एक 'स्थायी सन्यासी' बना रह सकता है। शंकर भी व्यावहारिक कार्य तथा आध्यात्मिक स्वतंत्रता के बीच कोई विरोधाभास नहीं पाते।

जीवन का लक्ष्य क्या है। इस प्रश्न को राधाकृष्णन भविष्य पर छोड़ देना पसन्द करते हैं। परम को वे एक 'आनन्दमाया' चेतना स्वरूप नहीं मानते, जो कि हमारा लक्ष्य है। संभवतः यह विकास, अथवा नये ब्रह्माण्ड की सृष्टि, अथवा परम पुरुष अगला पद होगा इसे कौन जानता है?

जब ब्रह्माण्ड का उद्देश्य पूरा हो जाता है, जब ईश्वरीय राज्य स्थापित हो जाता है, जब स्वर्ग की भाँति यह पृथ्वी पर भी आ जाता है, जब सभी व्यक्ति आत्म-विवेक प्राप्त कर लेते हैं और उन स्तरों से ऊपर उठ जाते हैं जिनमें कि जन्म और मृत्यु घटित होते हैं, तो यह ब्रह्माण्डीय प्रक्रिया वह समझी जाती है, जो सभी अभिव्यक्तियों के परे है।

हालाँकि राधाकृष्णन की *गीता* को प्रकाशित हुए चार दशक बीत चुके हैं, फिर भी यह प्रभावशाली अनुवाद, रेखांकित टिप्पणियों तथा पाश्चात्य दार्शनिकों के उद्धरणों के कारण आज भी लोकप्रिय बना हुआ है। इसके चिन्तन की लड़ियाँ विस्मयकारी हैं। उदाहरणार्थ, अध्याय दो की ग्यारहवीं पंक्ति हमारे समक्ष एक युद्ध संत्रास के परिदृश्य जैसा कथानक उपस्थित करती है : "जीवन की बदलती हुई नियति में यह कोई वास्तविक व्यक्ति या आन्तरिक आत्मा नहीं है, जो शोक और दुख व्यक्त करती है, बल्कि मनुष्य की मृग-मरीचिका (मोहभ्रम) है, बाह्य व्यक्ति, जो विश्व पटल पर अपनी भूमिका निभा रहा है।"

राधाकृष्णन भी *गीता* को अन्य पाठकों की भाँति दैवी रूप में देखते हैं। इसका सबसे महत्त्वपूर्ण प्रमाण विश्वरूप-दर्शन में मिलता है, जब कृष्ण ब्रह्माण्डवत् हो जाते हैं। *गीता* आश्चर्यजनक घटना का चित्रण करते हुए उसे रंजित करती है, जबकि राधाकृष्णन का सांकेतिक वाक्य हमारे कानों में पड़ता है : "दिव्य दर्शन कोई मिथक या अनुश्रुति नहीं, बल्कि एक आध्यात्मिक अनुभव है।" परन्तु यहाँ पश्चिमी श्रोता-दर्शक के पक्ष-पोषण की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे पाश्चात्य धार्मिक अनुभव के इतिहास में इस तरह की घटनाओं का अविलम्ब ज़िक्र करने लगते हैं : "जीसस का कायाकल्प दमस्कस रोड पर सॉल का दर्शन (विज़न) 'इन दिस साइन कान्क्वर' (इस प्रतीक में विजय) की कहावत लिये हुए क्रॉस पर कांस्टेंटाइन का दृश्य, तथा जान ऑफ़ आर्क का दर्शन (विज़न) ये सभी अनुभव अर्जुन के अन्तर्ज्ञान (विज़न) जैसे हैं।"

इस दृश्य (विज़न) की तुलना एक गूढ़ (रहस्यमय) अनुभव से करते हुए

राधाकृष्णन कहते हैं कि ऐसे अनुभव मात्र सहायक हैं, लक्ष्य नहीं है। इन अनुभवों का प्रयोग एक स्थायी विश्वास को प्राप्त करने तथा अपना व्यक्तित्व रूपान्तरित करने में किया जाना चाहिए। यह विश्वास सर्वोच्च सत्ता के प्रति आत्मसमर्पण का आन्दोलन है। राधाकृष्णन द्वारा की गई चरम श्लोक (अध्याय 18, 60) की व्याख्या हमें अनुग्रह के सिद्धान्त का विशिष्ट स्मरण कराती है। विना वाहरी सहायता या कृपा के मनुष्य पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकता। न तो मात्र ज्ञान से और न ही क्रिया से :

> "यह सर्वोच्च सत्ता के प्रति पूर्ण समर्पण है, जो हमें ऊर्ध्व में ले जाता है तथा हमें हमारी सम्भव पूर्णता तक ऊपर उठाता है। यद्यपि वह मालिक (प्रभु) विश्व का संचालन सुनिश्चित नियमों के अनुसार करता है और हमसे अपेक्षा रखता है कि हम अपनी प्रकृति तथा जीवनावस्था पर आधारित न्यायपूर्ण कर्म-सिद्धान्तों का पालन करें पर यदि हम उसमें आश्रय लेते हैं तो हम इन सवसे परे हो जाते हैं। प्रतीयमानतः व्यक्ति को वाह्य सहायता मिलनी चाहिए, क्योंकि उसकी आत्मा स्वयं को उस वन्धन से मुक्त नहीं कर सकती, जिसमें वह स्वयं और सायास फँस गई है। जब हम निःशब्द भाव से ईश्वर का सान्निध्य (दर्शन या भेंट) प्राप्त करते हैं तथा अपने ऊपर केवल उसी का नियंत्रण चाहते हैं, तो सहायता मिलती है।"

राधाकृष्णन की सुवोध तथा प्रामाणिक व्याख्या कभी-कभी अनेक वाह्य उद्धरणों (एवलिन अण्डरहिल, वाइविल, वर्ड्सवर्थ) से भी मदद लेती है, जिससे व्यक्ति को संयोगवश रहस्यवादी संग्रह का भी अनुभव होने लगता है। ऐसा नहीं कि वे एक साहित्य-संचालक थे, अपितु हिन्दू वेदान्त वहुत व्यापक था तथा दशकों पूर्व भारतीय दर्शन में उनके शैली-प्रवाह को, जिसका पश्चिमी श्रोता ने स्वागत किया, एक अच्छी तथा सरल व्याख्या देना कठिन था। लेकिन उद्धरणपूर्ण इस व्याख्या ने विषय को कभी धुँधला नहीं किया। उनके हाथों में (धर्म) ग्रन्थ वैचारिक भव्यताओं के रूप में सजीव हो उठे तथा सामान्य व्यक्ति की समझ को वढ़ाने के लिए सरलीकृत हो गये। यद्यपि यह विश्लेषण दार्शनिक है, किन्तु धर्मग्रन्थ की व्यापक उपयोगिता के कारण राधाकृष्णन का ध्यान हमारी स्थिति की ओर सदैव आकृष्ट हुआ। *गीता* निस्संदेह परम (सत्ता) की आराधना का ग्रन्थ है, परन्तु यह मानव-एकता की अनुभूति के लिए एक व्यावहारिक आचार संहिता भी है :

> "हमारे आध्यात्मिक अस्तित्व के असीम आधार पर स्थित स्वतंत्र आत्मा, शाश्वत व्यक्ति इस लोक के लिए कार्य करता है, शरीर, जीवन तथा मस्तिष्क की

वैयक्तिकता को धारण करते हुए भी वह आत्मा की सार्वभौमिकता बनाये रखता है। वह जो कुछ भी कार्य करता है (या करे), परम (सत्ता) के साथ उसकी घनिष्ठता बाधित नहीं होती।"

गीता का अनुकरण करके व्यक्ति सर्वशक्तिमान के पथ-प्रदर्शक व्यक्तित्व में परिवर्तित हो सकता है, उसकी प्रकृति दैवी हो सकती है तथा वह स्वयं को मृत्युलोक की प्रकृति के दिव्य रूपांतरण में लगा सकता है। यह वास्तविक स्वतंत्रता है :

"उसकी समग्र प्रकृति सार्वभौम दृश्य (विज़न) से शान्त है, गौरवपूर्ण ढंग से गढ़ी हुई है तथा आध्यात्मिक प्रकाश से प्रदीप्त है। उसका जीवन, शरीर तथा मस्तिष्क विभाजित नहीं है, बल्कि विशुद्ध रूप से प्रस्तुत है तथा दैवी प्रकाश के स्वभाव और साधन बन गये हैं, और वह स्वयं अपनी उत्कृष्ट कलाकृति बन गया है। उसका व्यक्तित्व अपनी पूर्णता, अपनी उच्चतम अभिव्यक्ति, पवित्र तथा स्वतंत्र प्रफुल्ल तथा भार मुक्तता की स्थिति तक पहुँच जाता है। उसकी समस्त गतिविधियाँ जगत् को एक साथ रखने के लिए होती हैं। मुक्त आत्माएँ अपने ऊपर समस्त विश्व की मुक्ति का भार ले लेती हैं।'

राधाकृष्णन ने गीता के इस आदर्श को बुद्ध के व्यक्तित्व में पाया। *'इण्डियन फिलॉसाफ़ी' (भारतीय दर्शन)* में बौद्ध धर्म के विषय में विस्तार से लिखने तथा ब्रिटिश अकादेमी में व्याख्यान के लिए एक विषय के रूप में बुद्ध का चयन करने के बावजूद राधाकृष्णन ने विस्तृत प्रस्तावना और टिप्पणियों के साथ *धम्मपद* का एक संस्करण भी प्रकाशित किया।

परम्परागत रूप से भारतीय शिक्षकों में सर्वश्रेष्ठ राधाकृष्णन ने तीन धर्म ग्रन्थों (प्रस्थानत्रयी के रूप में ज्ञात—*ब्रह्मसूत्र, भगवद्गीता तथा उपनिषद्*) की व्याख्या का चुनौतीपूर्ण कार्य किया। इस संदर्भ में शंकर, रामानुज तथा मध्वाचार्य सरलता से हमारे ध्यान में आते हैं।

हमारे अपने ही समय में राधाकृष्णन ने इस त्रयी विद्वता को प्राप्त कर लिया था। उनके *भारतीय दर्शन* के 150 से भी अधिक पृष्ठ उपनिषदों पर लिखे गये हैं। 1953 में प्रकाशित *द प्रिंसिपल उपनिषद्स* (प्रमुख उपनिषद्) हमारे सामने एक विस्तृत परिचय प्रस्तुत करता है और इन धर्मग्रन्थों का गुणगान करते हुए कहता है कि एक सार्वभौम दृष्टि प्राप्त करने के लिए इनका ज्ञान अपरिहार्य है। ऐतिहासिक सन्दर्भ पर सामान्य बल देते हुए, जो कि वेदों और वेदान्त विषयक वाद-विवाद में वेद-वेदान्तों के साथ स्थायी सान्निध्य की माँग करता है, राधाकृष्णन मूल ग्रन्थ पर अधिक बल देते हैं तथा स्वाभाविक रूप से अपने अनुवाद का पक्षपोषण करते हैं :

"शब्द विचार देते हैं, परन्तु वे सदा मनोदशाओं को अभिव्यक्त नहीं करते। उपनिषदों में हमं भाषण की एकता (सद्भावना) पाते हैं, जो भावनाओं को उत्तेजित तथा आत्मा को चलायमान करती है। मेरे लिए यह सम्भव नहीं रहा कि लय की समृद्धि, आत्मा की तीव्रता तथा सम्मोहन की शक्ति को जो कानों, हृदय तथा मस्तिष्क को प्रिय लगती है, अंग्रेज़ी अनुवाद में प्रस्तुत कर सकूँ। मैंने मूल (ग्रन्थों) के प्रति निष्ठावान होने का प्रयत्न किया है, यहाँ तक कि कभी-कभी चारुता के मूल्य पर भी। मैंने ग्रन्थों को उनकी समस्त ध्वनि-श्रेष्ठता तथा दैवी अनुभूति के साथ प्रस्तुत किया है।"

परन्तु राधाकृष्णन अपने विषय में पूर्ण हैं तथा उनके पास भाषा की सच्ची समझदारी है। हम कोई शिकायत नहीं कर सकते, बल्कि वास्तव में तो हम उनकी अंग्रेज़ी की स्थिरतालिका में अंकित कर लिये गये हैं, जो कि कठिन परिच्छेदों को उदार व्याख्याओं से सहज ही बोधगम्य बनाती है। पाश्चात्य पाठकों के लिए पाश्चात्य दर्शन से भी तुलनात्मक उद्धरण दिये गये हैं। इसी प्रकार जब वे *माण्डूक्य उपनिषद्* की ग्यारहवीं पंक्ति की व्याख्या करते हैं तो निःस्वप्न सुप्ति (प्रज्ञा) की चर्चा सामने आती है :

"परमेनिड्स, प्लेटो तथा हीगेल ने जो कल्पना की थी कि अस्तित्व तथा अनस्तित्व का विरोध सात्विक दृष्टिकोण से एक मौलिक द्वैत है, यह पंक्ति इसकी पुष्टि करती है। अस्वीकरण जिसे अस्वीकृत करता है, उसकी पूर्व कल्पना भी करता है। यद्यपि अस्तित्व अनस्तित्व का पूर्ववर्ती है, स्वयं अस्तित्व की भी कल्पना बिना विरोध के नहीं की जा सकती। अस्तित्व कभी भी अस्तित्व नहीं रह सकता, जब तक कि अनस्तित्व उसका विरोध नहीं करता। परन्तु कुछ ऐसी चीज़ है जो सत्ता (अस्तित्व) तथा असत्ता (अनस्तित्व) के विरोध की भी पूर्ववर्ती है और वह है एकता (यूनिटी) जो दोनों को पीछे छोड़ जाती है।"

दूसरी पंक्ति हमें लाओत्से के ताओ तथा प्लोटिनस के एनीड्स से परिचित कराती है। उपर्युक्त सभी व्याख्याएँ धार्मिक तथा दार्शनिक मामलों में राधाकृष्णन की व्याप्क सहिष्णुता का संकेत करती हैं। निश्चय ही सार्वभौम की और उनमें एक सहज आकर्षण था---एकम् सद् विप्रा बहुधा वदन्ति (सत्य एक है, पण्डित लोग उसे अनेक नामों से पुकारते हैं।) *भगवद्गीता, धम्मपद* तथा *उपनिषद्* वास्तविक जीवन के मामलों में बहुरंगी पृष्ठपट रखते हैं और राधाकृष्णन ने इनकी उपेक्षा नहीं की। महाभारत का युद्ध, बुद्ध का निर्वाण, तथा अतिप्राकृत विभूतियाँ—जैसे

उद्दालक आरुणि, तथा रैक्व—उनके यहाँ अपेक्षित भाव-भूमि उपलब्ध कराते हैं। यद्यपि *ब्रह्मसूत्र* का ऐसा लाभ नहीं है। उसके 555 सूत्र बिलकुल गूढ़ हैं, जैसा कि राधाकृष्णन *इण्डियन फ़िलॉसॉफी' (भारतीय दर्शन)* में कहते हैं :

> "वे किसी भी निश्चित आकार में प्राप्त नहीं होते उनकी शिक्षा का विवेचन कभी-कभी दैववाद के चमकीले रंगों में किया जाता है और कभी-कभी परम के अस्पष्ट अमूर्तन में।"

परन्तु राधाकृष्णन जानते हैं कि प्रारम्भ में पाठक का ध्यान कैसे आकृष्ट किया जाय। *'ब्रह्मसूत्र : द फिलॉसाफ़ी आन स्पिरिचुअल लाइफ़' (ब्रह्मसूत्र : आध्यात्मिक जीवन-दर्शन,* 1960) का प्राक्कथन तात्त्विक चिन्तन को व्यक्ति के दैनन्दिन जीवन से जोड़ता है। दर्शन—किसी हद तक भारतीय दर्शन—कभी भी मात्र अकादमिक अभ्यास नहीं हो सकता :

> "यह पुस्तक विशुद्ध रूप से पण्डित्यपूर्ण विचारों की प्रस्तुति नहीं है। यह महत्त्वपूर्ण तर्कों तथा प्रत्यक्ष ऐतिहासिक स्थिति के दवाव में से विकसित हुई है। हम मानव-इतिहास के महान संकट के केन्द्र में हैं, भय, चिन्ता तथा अन्धकार से वाहर निकलने का मार्ग ढूँढ़ रहे हैं, और एक नये प्रतिमान की खोज में भ्रमण कर रहे हैं, ताकि हम आगे अपना जीवन आरम्भ कर सकें।"

इस नयी शुरूआत के लिए हमें धर्म, नीतिशास्त्र तथा आध्यात्मिकता के साधनों को साथ रखने की ज़रूरत है। इस सन्दर्भ में संसार ने एक समृद्ध कोष का संग्रह किया है। यद्यपि इसका एक ख़ासा भाग फ़ालतू या निरर्थक हो गया है, फिर भी हमारी पारम्परिक संस्कृति में कुछ प्रारम्भिक विचार हैं जो हमारे भावी पथ-प्रदर्शन में वहुत उपयोगी हो सकते हैं। जीवन-दर्शन के निर्माण में *गीता* और *उपनिषद्* के साथ *ब्रह्मसूत्र* भी महत्त्व रखता है। "ये ग्रन्थ न केवल ऐतिहासिक अतीत के साथ वँधे हुए हैं, वल्कि वर्तमान में भी एक सजीव शक्ति हैं।"

ब्रह्मसूत्र में ब्रह्मविज्ञान संवंधी व्यापक विवेचन को राधाकृष्णन वहुत महत्त्वपूर्ण नहीं मानते। आधुनिक विज्ञान ने इन पुरातन विचारों को विस्थापित कर दिया है। परन्तु ब्रह्मसूत्रों में रेखांकित दर्शन के मूलभूत प्रश्नों पर मौजूद अभिकथनों को समय ने कालांकित (पुराना) नहीं किया है। व्यक्ति के निजी जीवनानुभव की पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए ये सूत्र 'ब्राह्मण' की प्रकृति तथा चरम यथार्थ के लिए हमारी खोज में महत्त्वपूर्ण आरम्भ-विन्दु उपलब्ध करायेंगे। अतः दार्शनिक भाष्य कोई निरर्थक लक्ष्य नहीं है।

नायकीय धीरता के साथ राधाकृष्णन एक के बाद एक वाक्य उठाते हैं तथा पौर्वात्य टिप्पणियों (महान् आचार्यों, जैसे शंकर, रामानुज, मध्वाचार्य, वल्लभ, श्रीपथी, विज्ञान-भिक्षु तथा अन्य से) का सारांश पश्चिमी दार्शनिकों, जैसे बर्गसां तथा सैमुअल अलेक्ज़ेण्डर के विचारों से तुलना करते हुए देते हैं। वे आसानी से पूरब का पक्ष नहीं लेते, वल्कि यह स्पष्ट करते हैं कि हम विकासमान कुंडलित की ओर गतिमान हैं, जैसा कि द्वितीय सूत्र—जन्माद्यास्यातह—द्वारा बताया गया है। राधाकृष्णन जव अपने पक्ष पर वोलते हैं तो वे स्वस्थ तथा आशाजनक वात कहते हैं :

> "जगत् कोई चिरस्थायी पुनरावृत्ति नहीं है, वल्कि पूर्णता की ओर से पूर्णताकारी प्रक्रिया है। यह परिवर्तित होगी, और यदि हम वुद्धिमान हैं तो अच्छे परिवर्तन को लायेगी तथा जगत् की शक्तियाँ हमारा समर्थन करेंगी। भविष्य मुक्त है। यदि हम महाविपदा का सामना करते हैं तो भ्रम एवं निराशा की शुरूआत करते हैं। गोइथे ने एक वार लिखा था—वह व्यक्ति जो निराशा के प्रति अयोग्य है, उसे जीवित रहने की आवश्यकता नहीं है—हमें डर है कि मानवजाति स्वयं को नष्ट कर देगी। इसके विषय में कोई अपरिहार्यता नहीं है। अव यह एक परिवार (कुल) हो जायेगी। प्रकृति तथा ईश्वर के नियमों के लिए एक दूसरे के साथ सहयोग करो, और अन्धकार, जिसमें कि आज हम हैं, एक अग्रदूत है, मृत्यु का नहीं, वल्कि एक नये युग के उषा-काल का।"

'शास्त्र-योनित्वात्' सूत्र 'ब्राह्मण' के वेद-स्रोत होने की घोषणा करता है। परंपरागत विचार यह है कि वेदों का चित्रण मानवजाति द्वारा नहीं किया गया, वल्कि उनका उद्घाटन तो परम (ईश्वर) के द्वारा ऋषियों के लिए किया गया था। शंकर मानते हैं कि यहाँ 'शास्त्र' शव्द से अभिप्राय सभी धर्मग्रन्थों से है। वैज्ञानिक युग में रहते हुए, निस्सन्देह, अव हम यही कहते नहीं रह सकते कि धर्मग्रन्थों का प्रणयन मनुष्य जाति ने नहीं किया था। यह वह समय है जव हम स्वयं धर्मग्रन्थों की ही प्रामाणिकता पर प्रश्न कर सकते हैं और यदि कोई इस पर वल देता है कि धर्मग्रन्थ ईश्वर के अमोघ (भ्रमातीत) शव्द हैं, तो हम इस पर सन्देह कर सकते हैं। परिवर्तित परिदृश्य को स्वीकारने तथा 'मालिक' (गॉड) शव्द की समीक्षा करने की वजाय प्रायः हम वैज्ञानिक तर्क के विरुद्ध ही दृष्टिकोण रखते हैं। 'आधुनिक ज्ञान और आलोचना के प्रहारों से अशान्त होकर कुछ लोगों ने रूढ़िवाद (फ़ंडामेंटलिज़्म) का आश्रय लेना चाहा है। रूढ़िवाद, अर्थात् एक पूर्ण मौखिक प्रेरणा का निष्कपट अभिमत (दावा), जो कि उस समस्त आधुनिक ज्ञान का पूर्ण नकार (अस्वीकरण) लिये

हुए है, जिसने धर्मग्रन्थों को सही ढंग से समझने में सहयोग दिया है।'

राधाकृष्णन के अनुसार, शंकर उचित ही मानते हैं कि धर्मग्रन्थ 'मनीषियों के प्रत्यक्ष अनुभवों के प्रमाण हैं, जो कि स्वतः प्रमाणित चरित्र हैं।' यद्यपि ईश्वरानुभूति का शब्दों से समुचित वर्णन किया जा सकता है। उनके लिए जो कि तीक्ष्ण बुद्धि हैं, यह संभव है कि ईश्वर का ज्ञान प्राप्त कर सकें। पर तब उन्हें, जो धर्मग्रन्थों में विशुद्ध श्रद्धा रखते हैं, ईश्वर की अनुभूति होती है, हालाँकि वे तब भी विज्ञान की अन्वेषक आत्मा (चाह) से अलगाव महसूस नहीं करते :

> "आस्था में हम अपने हृदयों पर विश्वास करते हैं, जबकि विज्ञान में अपने मस्तिष्कों पर। परन्तु 'आस्था' (फ़ेथ) शब्द का एक अन्य अर्थ है। यह प्रमाण अथवा अनुभव के बिना सत्ता की स्वीकृति मात्र नहीं है बल्कि सम्पूर्ण व्यक्ति की प्रतिक्रिया है जिसमें विवेकपूर्ण सहमति तथा इच्छा-शक्ति भी शामिल है। आस्था के व्यक्ति शक्ति (सत्ता) के व्यक्ति हैं, जिन्होंने सत्य को आत्मसात् कर लिया है तथा इसे सृजनात्मक तत्त्व में मिला लिया है। ईश्वर जीवन और ज्योति बन जाता है, जिससे वे अपना कार्य करते हैं, हमारी दुर्बल शक्ति के पास सशक्त शक्ति रहने लगती हैं ईश्वर उस आन्तरिक तत्त्व का नाम है जो हमारी सत्ता के उच्चतम केन्द्र का निर्माण करते हुए हमें उस ओर बढ़ाता है।"

इसी भाँति, सूत्रों की अवधारणा के लिए राधाकृष्णन एक भविष्यकालीन संकेत प्रदान करते हैं। हम स्पष्ट रूप से मानव विकास के एक धुँधले काल में फँसे हुए हैं, जहाँ हमारे सभी सवालों का जवाब विज्ञान नहीं दे सकता। बहुत समय पहले जब मनुष्य ऐसे ही काल से गुज़र रहा था, तो बादरायण ने अपने सूत्रों में यथार्थ के भिन्न विचारों को रखा था, जो कि उन्हें अपने समय में प्राप्त हुए थे। आधुनिक चिन्तकों की मतविभाजित दुनिया में वे सूत्र एक बार फिर अपनी भूमिका निभा सकते हैं। भारतीय धर्मग्रन्थों की राधाकृष्णन द्वारा की गई व्याख्या परम्परागत समीक्षाओं की कठिन पुनरावृत्ति नहीं है, बल्कि रूढ़िवाद और सिर्फ़ बुद्धिवाद की अस्वीकृति है :

> "समन्वय अथवा मध्यस्थता हमारे युग की आवश्यकता हैं।' सार्वभौमिक, सर्वव्यापक परिवर्तन घटित हो रहे मानव समाज की संरचना में कुछ नवीनता का प्रतिनिधित्व करते हैं, यद्यपि ये इतिहास के सामान्य क्रम (विषय) से अलग नहीं हैं। विश्व समुदाय (जिसका कि हम सामना करते हैं) का परिपोषण केवल सामूहिक विचारों एवं आदर्शों से ही हो सकता है। चरम आध्यात्मिक

लक्ष्यों के लिए हमें राजनीतिक तथा आर्थिक-दुर्व्यवस्थाओं से परे देखना होगा। हमें एक नये प्रकार का व्यक्ति गढ़ना होगा, जो अपनी नई जागरूकता से बनाये गये उपकरणों का प्रयोग करता है तथा प्राकृतिक प्रभुत्व की अपेक्षा वस्तुनिर्माण में अधिक सक्षम है।"

6

धर्म के व्याख्याता

एक रूढ़िवादी परिवार में जन्म लेने के कारण धार्मिक जीवन का संस्कार राधाकृष्णन को बचपन से ही सहज रूप में मिला। छात्र के रूप में उन्हें ईसाइयत (क्रिश्चियनिटी) का सामना करना पड़ा और यह उनके लिए एक निश्चित चुनौती बनी। इससे उनको अपनी एक व्यवस्थित आधार भूमि प्राप्त करने में आसानी हुई। वे न तो हिन्दू पुराणपन्थ की ओर पीछे मुड़े और न ही मिशनरी शैली से अभिभूत हुए, बल्कि दोनों से आगे बढ़े और शीघ्र ही आधुनिक व्यक्तित्व के लिए पूर्वी पश्चिमी धर्मों के उत्कृष्टतम व्याख्याताओं में से एक बन गये। मतान्धता तो उनके शब्दकोष में थी ही नहीं। एक शुद्ध हिन्दू तथा शंकर का प्रशंसक राधाकृष्णन अब सार्वभौम धर्म का प्रतिपादक बन चुका था। ऐसा इसलिए सम्भव हुआ, क्योंकि हिन्दू धर्म का सार उनमें प्रारम्भिक आयु में ही प्रदीप्त हो गया था :

> "मेरी धार्मिक बुद्धि मुझे अनुमति नहीं देती कि मैं कोई भी अविवेकी अथवा अपवित्र शब्द बोलूँ, जिसे कि मनुष्य की आत्मा नियंत्रित करती है अथवा पवित्र रूप में धारण करती है। सभी मतों के प्रति आदर का यह दृष्टिकोण, आत्मा के विषय में यह प्राथमिक कल्याणमयी शैली हिन्दू परम्परा तथा शताब्दियों के अनुभव सहित व्यक्ति की अस्थि-मज्जा में अन्तर्निहित है। धार्मिक सहिष्णुता हिन्दू संस्कृति को इसके आरम्भ से ही प्रकट करती है। प्रसिद्ध हिन्दू धर्म-ग्रन्थ *भगवद्गीता* स्पष्ट करती है कि यदि कोई व्यक्ति किन्हीं अन्य देवताओं के प्रति आस्था और समर्पण-भाव रखता है तो यह आस्था और समर्पण सर्वोच्च सत्ता के प्रति ही है, भले ही वह निर्धारित राह में न हो। धर्म का लक्ष्य ईश्वर का तात्त्विक ज्ञान प्राप्त करना ही है।"

मौलिक रूप से धर्मनिरपेक्ष रहते हुए वे किसी भी धर्म को समान आदर के साथ समझ सकते थे तथा उसकी प्रशंसा या पक्षपोषण कर सकते थे। वे अन्य धर्मों की आलोचना के प्रति उदासीन रहते थे तथा हिन्दू धर्म की तार्किक आलोचना करने से कभी नहीं चूकते थे। वास्तव में जब वे क्रिश्चियन कॉलेज में पढ़ रहे

थे तव ए.जी.हॉग द्वारा स्नातकोत्तर कक्षाओं में दिये गये नीतिशास्त्र सम्बन्धी व्याख्यानों से राधाकृष्णन को यह प्रेरणा मिली कि वे अपने मातृ-धर्म का सजगता तथा आलोचनात्मक ढंग से परीक्षण करें। निश्चय ही वह धर्म नहीं था, जिसने राष्ट्र को राजनीतिक रूप से निष्प्रभ बनाया। वार्नेट के हिन्दू धर्म, विन्टरनित्ज़ के *भगवद्गीता* और अभेदानन्द के वेदान्त विषयक व्याख्यानों से उन्हें अपने उत्तराधिकार की शक्ति का आभास हुआ।

यही कारण है कि उन्होंने शीघ्र ही अपने लघु शोध-प्रबन्ध के लिए यह शीर्षक चुना : "वेदान्त का आचार शास्त्र तथा इसकी तात्त्विक पूर्वकल्पनाएँ" (द इथिक्स ऑफ़ वेदान्त एण्ड इट्स मेटाफ़िजिकल प्रीसपोजीशंस) सर्वपल्ली गोपाल ने यह कहा है कि विषय का यह चुनाव उनके प्रथम श्रेणी परिणाम को प्रभावित कर सकता था, लेकिन डॉ. गोपाल ने क्रिश्चियन कॉलेज के एक अन्य शिक्षक विलियम मेस्टन का मत भी उद्धृत किया है :

> "उसने सुस्पष्ट चिन्तन शक्ति का परिचय दिया है। निर्णय की स्वतंत्रता तथा पढ़े गये विषय की पूर्ण तथा शीघ्र आत्मसातीकरण की क्षमता उसे उच्च बौद्धिक सुझाव तथा लब्धिप्राप्त व्यक्तियों की श्रेणी में स्थान दिलाती है। जो कुछ भी वह व्यक्त करता है, वह उसके निजी मानसिक यंत्र से निकलकर आता है, अपरिपक्व विचार के लिए उसमें कोई जगह नहीं है।"

यह कोई अचरज की बात नहीं कि कॉलेज के शिक्षक राधाकृष्णन की साहसिकता से पूरी तरह सन्तुष्ट थे। उन्होंने यह भी कहा कि वह कोई पुराणपन्थी प्रतिक्रियावादी नहीं हैं। उसी साहसिकता से, जो कि एक क्रिश्चियन कॉलेज में शोध-प्रबन्ध के लिए हिन्दू विषय के चयन में देखी गई थी, राधाकृष्णन ने ईसाई मिशनरियों द्वारा गिनायी गई हिन्दू धर्म की व्यावहारिक बुराइयों को भी स्वीकार किया। उन्होंने रूढ़िवादी पुरोहितों को नफ़रत से देखा तथा कहा—"विश्व में अधिकांश बुराइयाँ (युद्ध, धार्मिक उत्पीड़न, नर संहार, आगजनी, प्रताड़ना) इसी पुरोहितवाद के कारण फैली हुई हैं। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि यह एक सार्वभौम परिघटना है।"

राधाकृष्णन की राय में, यदि हम अन्धविश्वास के जर्जर पर्दों को उठा दें जो कि हिन्दू धर्म को ढके हुए हैं, तो हम नीतिशास्त्र के सृजनात्मक विज्ञान के बराबर आ सकते हैं, क्योंकि वही व्यक्ति को उसकी पूर्णता की राह में लगाता है। हिन्दू धर्म में ईश्वर के प्रति श्रद्धा का वास्तविक अर्थ है मानवजाति के प्रति श्रद्धा। डॉ. गोपाल के सारगर्भित शब्दों में :

> "मोक्ष तथा धर्माचरण, धर्म (रिलिजन) के दो ध्रुव थे। विवेक और प्रेम, परम में अन्तर्दृष्टि तथा अन्य मानवजातियों के साथ मैत्री के साथ-साथ व्यवहृत

होना था। ईश्वर के प्रति श्रद्धा मानव जाति का आदर करना था। असफलता, असहमति, निश्चित अस्तित्व की दुर्बलता तथा रहस्यवादी चेतना आत्मा के एकाकीपन में प्रवेश करने को प्रवृत्त थी, परन्तु ऐसे बचाव से धर्म को स्वयं व्यापक विषय-वस्तु से अलग हो जाने का ख़तरा था।"

तथापि हिन्दू धर्म की सहजात शक्ति की मान्यता का मतलब यह नहीं है कि उस अर्थ में किसी अन्य धर्म या ईसाइयत को अस्वीकृत कर दिया जाय, हालाँकि उन्होंने क्राइस्ट की विलक्षणता को स्वीकार नहीं किया। राधाकृष्णन ने स्वयं को पन्थगत बन्धनों से आगे बढ़ाते हुए जीवन के लिए मूलभूत धर्म के सार तत्त्व प्रतीक तक पहुँचाया। उदाहरणार्थ, 1921 में इंग्लैण्ड के बिशप ने महात्मा गाँधी के अहिंसा-सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहा कि यह (सिद्धान्त) जीसस के उपदेशों का अशुद्ध प्रदर्शन है। इस पर राधाकृष्णन ने अपनी घोर तथा निन्दात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त की। उनहोंने कहा कि वह गाँधी ही थे जिन्होंने क्राइस्ट (मसीह) की आत्मा का सच्चा प्रतिनिधित्व किया, न कि इन धार्मिक प्रमुखों ने जिन्होंने ईसाइयत को प्रदर्शित किया और साथ ही साम्राज्यवादी तथा मानवजाति के शोषक बने रहे।"

चिन्तक राधाकृष्णन ने पाया कि धार्मिक अनुभूति उत्सर्जनीय नहीं है, यहाँ तक कि तकनीकी युग में भी। वास्तव में आधुनिक व्यक्ति के लिए आत्मघाती भ्रान्ति से बाहर निकलने के लिए धर्म और भी आवश्यक हो गया था। धर्म में यह भी क्षमता थी कि वह व्यक्ति को एक आशाजनक भविष्य-निर्माण के लिए प्रेरित कर सके। उन्होंने पाया कि प्रत्येक धर्म ने ऐसी अपेक्षित प्रेरणा की सार्वभौम समृद्धि में अपनी भूमिका निभायी है। हालाँकि एक दार्शनिक लेखक के रूप में उनकी व्यापक ख्याति थी। 'धर्म' उनके लेखन में सांकेतिक शब्द ही था। उन्हें शीघ्र ही अपने विषय पर लौटना था और इस विषय पर उनकी प्रारम्भिक कृति है, *द रीन आव रिलीजन इन कन्टेम्पटरी फ़िलॉसॉफ़ी* (समसामयिक दर्शन में धर्म का शासन।)

1920 में प्रकाशित इस कृति ने धार्मिक अनुभूति को उच्च महत्त्व दिया। राधाकृष्णन ने उस शैली को स्वीकार नहीं किया, जिसमें ईसाइयत को तेज़ी से उभारा जा रहा था और दैनिक जीवन में व्यक्ति अपने धर्म से अपरिचित होते जा रहे थे। उस से भारत को कोई ख़तरा नहीं था जिसने प्रजातीय चिन्तन को शुष्क बनाने वाले अन्धकार को रोकने के लिए समय-समय पर आध्यात्मिक नक्षत्रों को पैदा किया है। राधाकृष्णन भारतीय धर्म की उस प्रतिभा का उल्लेख करते हैं, जिसमें समय-समय पर संस्थानीकरण (इंस्टीट्यूशनलाइजेशन) की बेड़ियों को तोड़ना

पड़ा है, क्योंकि इसी से धार्मिक अनुभूति के स्रोतों को सुरक्षित या जीवित रखा जा सकता है तथा चरम यथार्थ तक पहुँचने की यात्रा में व्यक्ति को सृजनात्मक सहायता दी जा सकती है, जैसा कि वे *इण्डियन फ़िलॉसॉफ़ी* (भारतीय दर्शन) में कहते हैं :

> "जब भी कभी धर्म ने अपने को एक निश्चित मत में रूढ़ कर देना चाहा तभी आध्यात्मिक पुनरुत्थान तथा दार्शनिक प्रतिक्रिया हुई, आस्थाओं (विश्वासों) को आलोचना के खरल में डाला, सत्य का समर्थन किया और असत्य का विरोध किया। भविष्य में समय-समय पर हम देखते हैं कि कैसी कब परम्परा से स्वीकृत आस्थाएँ अपर्याप्त हुई हैं या अस्वीकृत कर दी गई हैं। परिवर्तित कालों, साथ ही धीरता के बीच से विकसित युग के फलस्वरूप एक नये शिक्षक की अन्तर्दृष्टि, जिसमें कि बुद्ध, महावीर, व्यास अथवा शंकर बीच-बीच में झलक उठते हैं, आध्यात्मिक जीवन की गहराई को और भी भावोत्तेजक बनाती है। निस्सन्देह ये भारतीय चिन्तन के इतिहास के महान क्षण हैं। आन्तरिक परीक्षण तथा दर्शन (विज़न) के ऐसे क्षण जो आत्मोच्छवास के आह्वान पर जहाँ कि ये सूचीवद्ध हैं वहीं से प्राण फूँकते हुए (और ये कहाँ से आ रहे हैं, कोई नहीं जानता) उठते हैं। निःसन्देह यहीं से मानव आत्मा एक नयी शुरुआत करती है तथा एक नये साहसिक कार्य की ओर जाती है। सत्य के दर्शन तथा लोगों के दैनिक जीवन के बीच यह घनिष्ठ सम्बन्ध ही है, जो धर्म को सदा जीवित तथा वास्तविक बनाता है।"

राधाकृष्णन ने बड़ी सावधानी से वैदिक काल में प्रचलित पैशाचिकी तथा गुप्तविद्या को किनारे रखा, तथा सच्ची धार्मिक अनुभूति तक पहुँचे, जो तर्क, तत्त्व-मीमांसा तथा काल-परीक्षण में टिक सके। उन्होंने उपनिषदों के धर्म को अपने निकटतम पाया। उदाहरणस्वरूप, औपनिषदिक मनीषियों ने परम्परावाद से परहेज़ किया तथा आत्मा की सन्देहशीलता और खोज को प्रोत्साहित किया। उन्होंने घोषित किया कि वह वेदान्तिक आत्मा धर्म है, जिसकी मुझे आज ज़रूरत है 1928 में अपनी एक प्रकाशित पुस्तक *द रिलिजन वी नीड* (धर्म, जिसकी हमें आवश्यकता है) में वे कहते हैं कि प्राकृतिक तथा अति प्राकृतिक नियमों के बीच कोई विभेद नहीं है जिस तरह ईश्वरीय सृष्टि एक शाश्वत प्रक्रिया है। अपनी तकनीकी प्रगति के बावजूद हमें स्वयं को समृद्ध बनाने के लिए धार्मिक अनुभूति की आवश्यकता है, स्वयं को आत्मघाती मोहभ्रम के कगार से बचाने के लिए हमें धार्मिक अनुभव की ज़रूरत है। इस बात को सिर्फ़ बौद्धिक कुतर्क, अथवा संस्थानीकृत, औपचारिक समारोहों के रूप में समझने की भूल नहीं करनी चाहिए :

"यह (धर्म) एक आध्यात्मिक (निश्चितता) है, जोकि दुख तथा आवश्यकता की घड़ी में हमें शक्ति तथा सान्त्वना प्रदान करता है। यह दृढ़ धारणा है कि प्रेम तथा न्याय ब्रह्माण्ड के हृदय में हैं, आत्मा जिसने मनुष्य को ऊपर उठाया, इसे पूर्णता तक पहुँचायेगी। यह 'विश्वास' है जो हमें मुग्ध करता है, यहाँ तक कि हमारी पराजय में भी। यह आश्वासन कि तट पर लहरें खण्डित भले हो जायें विजयी समुद्र ही होता है।"

यह विश्वास हमें भय, दासता तथा संकीर्णता से मुक्ति दिलाता है। यह धार्मिक विश्वास 'ध्यान' (मनन) तथा 'विनय' (आत्मानुशासन) के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता हैं इसे नैतिक धीरता के निरन्तर निपेचन से पुष्ट किया जा सकता है। यह किसी जादुई छड़ी द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। नहीं, जिस धर्म की मुझे आज ज़रूरत है उसके लिए कोई आसान मार्ग (शार्ट-कट) नहीं है। 'प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं को इतना आध्यात्मिक वनाने की कोशिश करनी चाहिए, जिससे वह आत्मा के राज्य का उपयुक्त सदस्य बन सके।' जव ऐसी अपूर्व पूर्णता एक सार्वभौम परिघटना वन जाती है, तो समस्त व्यक्तियों (मनुष्यों) का भ्रातृत्व एक वास्तविकता वन जाता है। यही सच्चा दिव्य जीवन होगा। मानव एकता किसी अन्य आधार पर नहीं प्राप्त की जा सकती :

"इस पृथ्वी पर मानव एकता केवल सुदृढ़ धार्मिक आत्माओं द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है, जिनकी देशभक्ति भूगोल अथवा इतिहास की सीमाओं को नहीं जानती, वल्कि जानती है तो केवल न्याय और सत्य, स्वतंत्रता तथा निष्पक्ष व्यवहार, ईश्वर तथा मानवता...। इतिहास में ऐसी धार्मिक प्रतिभाओं के लिए कभी विशेष स्थान नहीं रहा जो सामञ्जस्य को नहीं मानतीं तथा 'जाति' की पहचान को धर्म-प्रवीण शक्तियों-राजनीतिज्ञों, सौदागरों तथा व्यापारियों के साथ विलीन करने को तैयार नहीं होतीं। एक सार्वभौम देवता (ईश्वर) की ओर अधिक ओजस्वी एवं गहन अनुभूति हमारे युग की गम्भीरतम आवश्यकता है।"

राधाकृष्णन को इसमें कोई सन्देह नहीं था कि हिन्दू धर्म वेदान्त के माध्यम से विश्व को ऐसे ओजस्वी तथा गहन अनुभूतिशील सार्वभौम देवता का उपहार प्रदान करने में सक्षम है। हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान मात्र ही एक सकारात्मक संकेत था। आर्य तथा द्रविड इस बिन्दु पर पूर्णतः एकमत थे कि आधुनिक हिन्दू धर्म में अवैदिक तत्त्वों से वैदिक तत्त्वों को अलग नहीं किया जा सकता। कोई भी जातीय तथा भौगोलिक सीमा इसकी प्रगति को रोक नहीं सकती जैसा कि उन्होंने *रिलीजन एण्ड सोसाइटी* (धर्म और समाज) (1947) में स्पष्ट किया है :

"आरम्भिक दिनों में इसका प्रभाव क्षेत्र चम्पा, कम्बोडिया, जावा तथा बाली तक फैला। ऐसा कुछ भी नहीं है जो धरती के दूरस्थ भागों में इसके प्रसार को रोकता हो। भारत एक परम्परा, एक आत्मा, एक प्रकाश है। उसके भौगोलिक तथा आध्यात्मिक सीमान्त एक साथ मेल नहीं खाते।"

चार पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—की हिन्दूवादी अवधारणाएँ मानव जीवन के सभी पहलुओं तथा पृथ्वी की सभी आकांक्षाओं का दायित्व सँभालती हैं। जीवन के सभी ऐहिक विवेचन आध्यात्मिक पटल पर एकतार रूप से उत्थापित हैं और इसीलिए व्यक्ति का दैनन्दिन जीवन 'सच्चे अर्थ में ईश्वर (चरम) की सेवा' हो गया है। *रिलीजन एण्ड सोसाइटी* (धर्म और समाज) में उन्होंने बताया है कि किस तरह से यह उच्च आदर्श, जो कि अनेक प्रयत्नों—योग, मूर्ति पूजा तथा धार्मिक संस्थाओं—के सहारे प्राप्त किया गया था, सर्वत्र पतन को प्राप्त हो रहा है। अब हमारा लक्ष्य होना चाहिए कि इन्हें धार्मिक अनुभूति प्राप्त करने के इनके मौलिक अभीष्ट की ओर वापस लाया जाए। 'नये की विशुद्ध शक्तियों को अतीत के वैध (प्रामाणिक) तत्त्वों के साथ एक नयी एकता में जोड़ा जाना चाहिए या एक नये जाल में बुना जाना चाहिए।' राधाकृष्णन मानते हैं कि अतीत का उत्कृष्ट शंकर के धर्म में ही प्राप्त किया जा सका है, 'जो कि बाह्य आस्थाओं को आत्मसात् करने के लिए सदैव तत्पर रहता है।' उन्होंने कहा :

"जबकि वैष्णववाद, शैववाद, शक्तिवाद आदि के अनुयायी एक-दूसरे के साथ झगड़ रहे थे, शंकर ने इन प्रचलित विश्वासों को खण्डन-मण्डन के विवाद से निकालकर शाश्वत सत्य के सुबोध वातावरण में रखा। उन्होंने ज़ोर दिया कि सत्य-धर्म की जड़ें आध्यात्मिक आन्तरिकता (भीतरीपन) में निहित हैं। समस्त धर्मों द्वारा जिस सत्य की तलाश है, वह है आत्मा, जब तक हम उस यथार्थ के साथ स्वयं की एकता नहीं मानते जो इन सभी अपूर्ण विशेषताओं से ऊपर है, तब तक हम इस संसार-चक्र में भटकते रहेंगे। अपने दार्शनिक दृष्टिकोण से वे घोषित करते हैं कि परम के दर्शन के हालाँकि कई तरीक़े हैं, परन्तु उनकी अन्तर्निहित यथार्थता एक समान है यथार्थता की विभिन्न श्रेणियाँ नहीं हैं, यद्यपि सत्य की श्रेणियाँ हैं, अर्थात् यथार्थ को समझने वाली पद्धतियों की श्रेणियाँ।"

अन्य धर्म, जो राधाकृष्णन की दृष्टि में आये, वे उपनिषद् धर्म के समान आदर नहीं पा सके। उन्होंने देखा कि हीनयान (बौद्ध धर्म की एक शाखा) की जीवन के प्रति जुगुप्सा न तो सुविधाजनक है और न ही व्यावहारिक; महायान, उनके मत में, कमोबेश भागवत धर्म है। वे पाते हैं कि रामानुज का वैष्णव धर्म

आकर्षक तो है, पर विश्वास योग्य नहीं है। यहाँ पर राधाकृष्णन मताग्रही विवाद की दलदल में नहीं फँसते। उनकी प्रशंसा (जब कभी होती है) मुखर है, आलोचना मौन। कोई भी धर्म (नया भी) यहाँ स्वागत पाता है वशर्ते वह वर्तमान को शुद्ध करता हो तथा एक सुखद भविष्य सामने लाता हो। राधाकृष्णन सिक्ख धर्म का भारत के सभी धर्मों की तरह सामयिक त्राणकर्ता के रूप में स्वागत करते हैं। वास्तव में कोई भी नया धर्म नहीं हो सकता। केवल एक विशुद्ध चेष्टा या अगला प्रयास हो सकता है। *'द सेक्रेड राइटिंग आव द सिक्खज़'* 'सिक्खों के पवित्र लेखन' (1960) का परिचय कराते हुए उन्होंने पाठकों का ध्यान *आदि ग्रन्थ* की ओर आकर्षित कराया है, जिसमें हिन्दू तथा मुस्लिम शास्त्रों के सूत्र समाहित हैं :

> "यह भारतीय परम्परा के साथ सामञ्जस्य है, जो सभी धर्मों का आदर करता है तथा मानव-आत्मा की स्वतंत्रता में विश्वास करता हैं भारतीय आध्यात्मिक परम्परा मात्र सहिष्णुता से सन्तुष्ट नहीं है। वहाँ कोई सद्भावना अथवा मैत्री नहीं हो सकती, जहाँ हम केवल एक-दूसरे को ही सहन करें...हमें अन्य आस्थाओं का भी अनुपालन करना चाहिए, यज्ञीय जीवन को प्रोत्साहित करना चाहिए तथा उनके अनुयायियों को एक आदर्श जीवन के लिए प्रेरित करना चाहिए। सिक्ख गुरुओं में, जिन्होंने *आदिग्रन्थ* को संकलित किया, अन्य धार्मिक परम्पराओं के मूल्यवान तत्त्वों के अनुपालन की आदर्श विशेषता थी। सन्त सारे विश्व से सम्बद्ध हैं। वे सार्वभौम व्यक्ति हैं, जो हमारे मस्तिष्क को धर्मान्धता, अन्धविश्वास. रूढ़िवाद तथा कट्टरता से मुक्त करते हैं और धर्म की मौलिक सरलता पर ज़ोर देते हैं। वे विश्व के महान् मनीषी और आन्तरिक मूल्यों के अभिभावक हैं, जो अपने अन्धविश्वासी अनुयायियों की मतान्धता को परिशोधित करते हैं।"

सृष्टि की सभी वस्तुओं में ईश्वर की उपस्थिति पर ज़ोर देने के कारण राधाकृष्णन ने सिक्ख धर्म को बड़ा सम्मान दिया। ईश्वर कोई तात्त्विक अमूर्तन नहीं है, बल्कि एक बहुत बड़ी प्रायोगिक वास्तविकता है। सिक्ख धर्म का तारतत्त्व सर्वोत्तम ढंग से गुरुनानक की 'आरती' से प्रकट किया जा सकता है, जिसे राधाकृष्णन ने यह दिखाने के लिए उद्धृत किया है कि सन्तगण किस तरह मोतियों से जटित स्वर्ण तश्तरियों में धूप एवं मंजरी के साथ भगवान जगन्नाथ के मन्दिर में पूजा-अर्चना करते हैं तथा संस्थापित देवता में परम सत्ता (एक ओंकार) को मानते हैं :

> "हे मेरे मालिक, सूर्य और चन्द्र तुम्हारे दीपक हैं, आकाश तुम्हारी थाली है तथा तश्तरी में रखे मोती आकाश में तारों की भाँति तुम्हारे (लिए) तेल (के सदृश) हैं, चन्दन के वृक्ष की सुगन्ध तुम्हारी धूप (सुगन्ध) है, हवाएँ

तुम्हारा चँवर हैं, हे प्रकाश के स्वामी, समस्त वन तुम्हारे पुष्प हैं।"

राधाकृष्णन के वोध की सुस्पष्टता ने उनकी कृतियों को पश्चिम में चमकाया *'ईस्टर्न रिलीजन्स एण्ड वेस्टर्न थॉट'* (पौर्वात्य धर्म तथा पाश्चात्य चिन्तन, 1939) वस्तुतः शव्दशः विश्व की अजन्मी आत्मा की खोज है। पश्चिमी धर्मों में यहूदियों के साथ राधाकृष्णन यह समझौता नहीं कर सके कि केवल उन्हीं (यहूदियों) की एकता (धर्मसत्ता) सच्ची है फिर भी यह स्वीकार करना चाहिए कि यहूदी शेष विश्व को अपने सच्चे धर्म में परिवर्तित करने के संकटपूर्ण रास्ते पर नहीं चले। ईसाई धर्ग एक सामान्य आन्दोलन के रूप में स्वैच्छिक दुखभोग तथा सार्वभौम प्रेम करते हुए शुरू हुआ। तथापि, राधाकृष्णन के अनुसार, ईसाइयत ने अपना नैतिक भाव सेमेटिक (Semetic) धर्म से, मतवाद यूनानियों से, तथा संस्थागत स्थायित्व रोमनों से प्राप्त किया। यह रोमन तत्त्व ही था जो ईसाइयत को इसके सार्वभौम दृष्टिकोण से रोकता था :

> "विश्व राज्य की उनकी इच्छा ने जीसस की सामान्य आस्था को एक उग्र धर्मान्तरित पन्थ में वदल दिया। कांस्टेंटाइन युग के वाद शासकों ने—धर्मनिरपेक्ष तथा क्लैरिकल—धार्मिक विश्वास के अन्य स्वरूपों के प्रति इन शव्दों का सहारा लेते हुए निरन्तर असहिष्णुता बरती कि—वह जो मेरे साथ नहीं है, मेरे ख़िलाफ़ है, और वह जो मुझसे एकमेक नहीं है, विनष्ट एवं छिन्न-भिन्न है।"
>
> "हममे से अधिकांश जो धार्मिक वनना चाहते हैं, ऐसा वे स्वभावतः भावना या जड़भाव से करें। हम अपने धर्म को उसी तरह स्वीकार करते हैं, जैसे कि हम इंग्लैण्ड के कोष अथवा प्रगति के भ्रम को स्वीकार करते हैं। हम ईश्वर में आस्था रखते हैं पर इसके लिए कुछ करने को तैयार नहीं हैं। हम चिन्तन के स्वरूपों को जानते हैं, पर दृढ़विश्वास के तत्त्व से रहित हैं। जव मनुष्य पुरानी आस्था को भूल जाते हैं और इसके स्थान पर कोई ठोस वस्तु रखने के लिए नहीं पाते, तो अन्धविश्वास जन्म लेता है या वढ़ता है।"
>
> "आदिम वर्वरतापूर्ण कार्यों में नये अन्धविश्वास किसी भी तरह प्राचीन अन्धविश्वासों से कम नहीं हैं। लुटेरे राज्य को रोकने वाला कोई नहीं है। राष्ट्रीयता (नेशनहुड) ऐसे ही अन्धविश्वासों में से एक है, एक रहस्यात्मक प्रतीक, जिसकी रक्षा के लिए हम वर्वरों की भाँति पूजा में एकत्र होते हैं।"

विश्व के धर्मों की विवेचना करते हुए राधाकृष्णन जानवूझकर हतोत्साहित

होते हैं कहते हैं कि धार्मिक अनुभूति आज के व्यक्ति के लिए केवल एक आदत बन गई है, जिसके पास इसके गहन निहितार्थों को जानने का समय नहीं है। इसी समय वे यह भी देखते हैं कि आधुनिक व्यक्ति नये अनुभवों पर ज़ोर दे रहा है तथा नये क्षितिजों द्वारा संकेत रूप में उसे बुलाया जा रहा है, क्योंकि दुनिया बहुत सिमट गई है और पूर्व तथा पश्चिम अब एक-दूसरे के लिए अपरिचित नहीं रह गये हैं। पूर्व-पश्चिम के परिचय की इस घड़ी में क्या कुछ ख़ास घटित नहीं हो सकता, एक नया धर्म—मानवता का धर्म—जन्म नहीं ले सकता? ऐसे समय में जब सारी दुनिया में रूढ़िवाद द्वारा मानवता की नींव हिलाई जा रही है, राधाकृष्णन जैसे प्रबुद्ध धर्म-व्याख्याता का स्मरण करना लाभकर है, जिसने रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अनुसार, हमारे लिए मानव धर्म को स्पष्ट किया। कुल मिलाकर धर्म को हमें सभ्यता की अवयस्कता का पुराणपन्थी स्मृति शेष मानकर तिरस्कृत करने की आवश्यकता नहीं है। धर्म वास्तव में आत्मपूर्णता के लिए मनुष्य को परम (ईश्वर) का उपहार है! जैसा कि राधाकृष्णन *पौर्वात्य धर्म तथा पाश्चात्य चिन्तन* में एक समुदाय के बुज़ुर्ग के नाते लिखते हैं :

> "जब मनुष्य सर्वोच्च सत्ता को समझता है, प्रत्यक्ष की ओर लौटता है, तथा अपने जीवन को इसके सत्य के जीवन में नियन्त्रित करता है, तब वह पूर्ण मनुष्य बनता है। (तब) वह प्रायः एक अकल्पनीय (कल्पनातीत) सार्वभौम तक पहुँच जाता है। उसकी सभी शक्तियाँ, जोकि अब तक संकीर्ण स्वार्थों में जकड़ी हुई थीं, एक वृहत लक्ष्य के लिए स्वतंत्र हो जाती हैं। एक आत्म-चेतन व्यक्ति का गौरव ईश्वर-केन्द्रित विनय को पैदा करता है। वह जगत में इस विश्वास के साथ कार्य करता है कि जीवन अपने पवित्र गुण में सदैव आदर्श तथा सुन्दर है, और इसकी हताशा ही मात्र एक बुराई है।"

7

दार्शनिक

राधाकृष्णन धर्म तथा दर्शन के प्रतिपादक थे, परन्तु अपने दृष्टिकोण के नाते वे एक दार्शनिक भी थे मात्र अकादमिक दार्शनिक नहीं। सर्वपल्ली गोपाल राधाकृष्णन के जीवन से अनेक ऐसे उदाहरण देते हैं, जिन्हें केवल धार्मिक अनुभव के रूप में देखा जा सकता है तथा जिसकी व्याख्या अन्तर्ज्ञान के द्वारा ही हो सकती है, विद्वत्ता के द्वारा नहीं। धर्म की वाह्यताएँ राधाकृष्णन को रोकती नहीं हैं, अपितु उनमें एक वाह्य (परे) की समझ है, परात्पर रूपी एक श्रेष्ठ निर्देशक में विश्वास है :

> "जैसे-जैसे राधाकृष्णन की सफलता विकसित होती गयी, उन्हें अधिकाधिक यह विश्वास होने लगा कि उनका जीवन किसी अदृश्य के हाथों निर्मित हो रहा है। जीवन को वहुत कुछ भिन्न साँचों में ढालने का प्रयत्न कर सकते थे, परन्तु उन्होंने स्वयं को, अपने निर्णयों तथा सोच को उस अदृश्य के प्रति अधिक से अधिक प्रतिवद्ध किया। "

वे ऐसा सोच भी नहीं सकते थे कि किसी का जीवन घटनाओं की एक ऐसी दीर्घ शृंखला वन सकता है। जन्म-स्थिति और धनाभाव के कारण उन्हें कॉलेज-शिक्षा प्राप्त करने के लिए संघर्ष करना था। यहाँ तक कि एम. ए. करने के वाद भी उन्हें पर्याप्त अर्थ-लाभ नहीं हुआ और आर्थिक दृष्टि से सुरक्षित होने में उन्हें एक लम्वा समय लगा। और फिर प्रत्येक निर्णायक मोड़ पर सही निर्णय स्वतः ही घटित होने लगे और वे सोद्देश्य आग्रह की अनुभूति के साथ प्रगति की ओर वढ़ने लगे। क्या इससे ऐसा नहीं लगता कि इन नश्वर आँखों से परे कोई ऐसी शक्ति कार्य कर रही थी, जो उन्हें सही समय पर सही निर्णय लेने में मदद पहुँचा रही है? जैसा कि उन्होंने 'अपराध-स्वीकरण का एक भाग' (फ्रेगमेंट्स ऑफ़ ए कन्फ़ेशन) में कहा है :

> "जव मैं उन घटनाओं की श्रेणियों को देखता हूँ जिन्होंने मेरे जीवन को रूप दिया, तो मैं यह स्वीकार करता हूँ कि इस जीवन में ऐसा वहुत कुछ

है, जिसे मेरी आँखें नहीं देख पा रही है। जीवन मात्र भौतिक कारणों और प्रभावों की ज़ंजीर नहीं है। यथार्थ ज़मीन मिलने की सम्भावना झलकती है, पर गहन अन्तरतम में अन्य शक्तियाँ कार्य कर रही हैं। यदि ब्रह्माण्ड एक जीवित इकाई है, यदि यह आध्यात्मिक दृष्टि से जीवित है, तो इसमें मात्र सांयोगिक (आकस्मिक) कुछ भी नहीं है। 'गतिशील उँगलियाँ लिखती हैं और तदनन्तर आगे बढ़ जाती हैं।"

राधाकृष्णन ने अन्य शक्तियों, जैसे कि हिन्दू देवकुल में 'इष्ट देवता' की कृपा, के वर्णन हेतु कोई ईश्वरवादी दृष्टिकोण नहीं अपनाया। एक पवित्र स्थान तिरुत्तनी से, जो कि प्रसिद्ध मन्दिर तिरुपति के बहुत पास है, सम्बद्ध होने के बावजूद राधाकृष्णन ने हिन्दू देवी-देवताओं का ज़िक्र तब तक नहीं किया है, जब तक अत्यावश्यक न हो। यदि वे उस सार्वभौम शक्ति को नहीं रोक पाये, जिसने उनके भाग्य को राम अथवा कृष्ण अथवा वेंकटेश्वर की मूर्तियों की ओर निर्देशित किया तो ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि उन्होंने ऐसी वैदिक-पौराणिक जनश्रुति के बन्धनों को तोड़ दिया था और परम की कर्मलीला को देखा था। उसी समय क्योंकि वे एक गहन धार्मिक वातावरण में आ गये थे—चाहे वह तिरुत्तनी हो या ईसाई मिशनरियों के स्कूल-कॉलेज—दर्शन के प्रति उनका दृष्टिकोण धार्मिक बना रहा और इसीलिए शाश्वत के जीवनानुभव के साथ संपादित होता रहा। एक युवा विद्यार्थी के रूप में जीवन संघर्ष करते हुए उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। एक निम्न-मध्यवर्गीय परिवार की गहन निर्धनता उनके चारों ओर उनके जीवन के प्रारम्भिक तीस वर्षों तक छायी रही। इसके बाद एक लम्बे समय तक उन्हें संयुक्त परिवार का ख़र्च वहन करना था। इसके अलावा उनकी अनेक व्यक्तिगत निराशा तथा असंगतियाँ थीं। मात्र सफलता ही उन्हें इन कठिनाइयों में सहारा नहीं दे सकती थी। ऐसे में यदि राधाकृष्णन ने अपनी शान्ति एवं धीरता बनाये रखी और अपने जीवन-लक्ष्य की दिशा में अवाध बढ़ते रहे, तो वह इसलिए, क्योंकि उन्होंने जीवन का एक दर्शन विकसित कर लिया था और जो विशुद्ध उनका अपना था।

'एन आइडियलिस्ट व्यू आव लाइफ़' (जीवन की आदर्शवादी दृष्टि), कल्कि अथवा *'द .फ्यूचर आव सिविलाइजेशन'* (सभ्यता का भविष्य) तथा *'रिकवरी आव फेज'* (विश्व का प्रतिलाभ) जैसी पुस्तकों का पठन यह विश्वास दिलाता है कि राधाकृष्णन का दर्शन उनकी एक असाधारण दूरदर्शिता के अनुभव प्रकाश में तुलनात्मक धर्म से उनकी गहन संलग्नता का परिणाम है। वाह्य रूप में एक चरम निर्देशक है। विश्वास के क्षेत्रों में सृजनात्मक साहस की संवेदना के साथ उन्होंने लम्बी यात्राएँ की हैं, क्योंकि वे स्वयं भी एक विश्वास के व्यक्ति थे। निश्चय ही वे अवलोकनीय

(विज़नरी) हर्षोन्माद के कृपापात्र नहीं थे, परन्तु उन्होंने अपने भीतर एक संरक्षक शक्ति की उपस्थिति का निश्चित अनुभव किया। इस अनुभूति की न तो वैज्ञानिक ढंग से कोई व्याख्या ही की जा सकती है और न ही प्रतीकात्मक रूप से इसे अभिव्यक्त ही किया जा सकता है। यद्यपि वे एक कवि नहीं थे, परन्तु उन्होंने गहरी लगन से कविता को पढ़ा और पाया कि एक निर्देशक शक्ति की उपस्थिति अन्य लोगों द्वारा भी प्रस्तावित की गयी है, और इसीलिए उन्हें आश्वासन मिला कि वे सही रास्ते पर चल रहे हैं। सदा की तरह, राधाकृष्णन ने इस शक्ति को राम अथवा कृष्ण से नहीं जोड़ा। परन्तु परम (सत्ता) का अस्तित्त्व तथा नश्वर व्यक्ति को दैवी आदर्श के रूप में रूपान्तरित करने में परम का निर्देश—इन दोनों तथ्यों का अनुभव राधाकृष्णन को था। *भगवद्गीता* के चौथे अध्याय की ग्यारहवीं पंक्ति पर टिप्पणी करते हुए वे लिखते हैं :

> "ईश्वर प्रत्येक जिज्ञासु को अनुकूल भाव से मिलता है तथा उसके हृदय की प्रत्येक इच्छा को पूरी करता है। वह किसी आशा को मिटाता नहीं है, बल्कि सभी आशाओं को उनकी प्रकृति के अनुसार विकसित होने में मदद करता है। और, वे जो वैदिक देवताओं की यज्ञादि से पूजा करते हैं तथा प्रतिफल की आकांक्षा रखते हैं, उन्हें भी परम की कृपा से उनका अपेक्षित मिलता है। वे (देवता) जो कृपापूर्वक सत्य की दृष्टि प्रदान करते हैं, प्रतीकों द्वारा इसे सामान्य जनता तक पहुँचाते हैं जोकि अपनी तीव्र उत्कंठा के कारण उसे नहीं देख सकती। नाम और रूप का प्रयोग रूपहीन तक पहुँचने के लिए किया जाता है...तात्त्विक (विचार) दृष्टि से कोई भी प्रस्तुति पूर्णतः सत्य के रूप में नहीं अपनायी जा सकती, जबकि अनुभव के हिसाव से इनमें से प्रत्येक की कुछ-न-कुछ प्रामाणिकता है। पूजा के विभिन्न रूप वे साधन हैं जिनसे हम अपने आत्यन्तिक हित (परम प्रिय) के बारे में चैतन्य होने में मदद पाते हैं।"

राधाकृष्णन पूर्णतः वैज्ञानिक युग में रह रहे थे और वे विश्व-भर में इसकी सफलताओं एवं विफलताओं के वीच छोड़ दिये गये थे। परन्तु पूजा-स्थल 'तिरुत्तनी' की आस्था वाला वह व्यक्ति वैज्ञानिक और तकनीकी आकर्षणों से वहुत प्रभावित नहीं हुआ। हालाँकि वे एक आधुनिक व्यक्ति की तकनीकी कुशलता अर्जित कर रहे थे, किन्तु उनकी आस्था इसी परम निर्देशक में थी। अन्तर्ज्ञान तथा पाण्डित्य में से अन्तर्ज्ञान विजयी होता है। बिना अन्तर्दृष्टि के हमारा सम्वेदी बोध तथा विश्लेषणकारी चातुर्य हमें कहीं नहीं ले जा सकता। *'एन आइडियलिस्ट व्यू आव लाइफ़'* (जीवन की एक आदर्श) *दृष्टि* में उन्होंने कहा :

"मूल्यों की मान्यता तथा सृजन, दोनों अन्तर्बोधी चिन्तन के कारण हैं। तत्त्व के निर्णय निष्पक्षता की माँग करते हैं, मूल्य का निर्णय अनुभव पर निर्भर करता है। चाहे कार्य की योजना सही हो या ग़लत, चाहे प्रस्तुत उद्देश्य अच्छा हो या बुरा, निर्णय केवल उन्हीं व्यक्तियों द्वारा हो सकता है जिनका विवेक (चेतना) जाग्रत हो और जिनकी समझ कुशल। गुणी की सम्वेदनशीलता जीवन का कार्य है और यह मात्र सीखने से प्राप्त नहीं की जा सकती। यह आत्म-विकास की मात्रा पर निर्भर करती है।"

राधाकृष्णन की कृति *जीवन की एक आदर्श दृष्टि* (एन आइडियलिस्ट व्यू ऑफ़ लाइफ़) जब 1932 में प्रकाशित हुई तो दार्शनिक क्षेत्रों में ताज़ा हवा की तरह इसका स्वागत हुआ, यहाँ तक कि सी. ई. एम. ने उनके दर्शन पर एक पुस्तक प्रकाशित की, जिसका शीर्षक रखा, *काउन्टर अटैक फ्राम द ईस्ट (पूर्व से प्रति-प्रहार)* जोड ने भारतीय अद्वैत का तो समर्थन किया, लेकिन धर्म, दर्शन, राजनीति तथा संस्कृति को एक अवयवी सत्ता के रूप में संश्लेषित करने वाले राधाकृष्णन के दृष्टिकोण का उन्होंने स्वागत किया। परन्तु यहीं कुछ आलोचना भी थी। लियोनार्ड वूल्फ़ ख़ास तौर से विष से भरा हुआ था और उसने 'बौद्धिक नीमहकीमी' को फटकारने के लिए *क्वैक! क्वैक!* नामक पुस्तक प्रकाशित की। उसके अनुसार, बीसवीं शताब्दी के कुछ बुद्धि विरोधी ख़तरनाक ढंग से अस्पष्ट रहस्यवाद में लिप्त थे। राधाकृष्णन का यह दावा कि वे अन्तर्ज्ञान को पाण्डित्य के सहायक एक आवश्यक तत्त्व के रूप में मानते हैं, उनके आलोचकों को सरलता से आश्वस्त नहीं कर सका। परन्तु वे ऐसी आलोचनाओं को नकारते हुए अपने दार्शनिक मार्ग पर उसी तरह बढ़ते रहे जिस प्रकार हाथी कुत्तों के भौंकने की परवाह किये बिना अपनी राह बढ़ते जाते हैं। उनकी प्रतिष्ठा को बनाने में *कल्कि (सभ्यता का भविष्य,* 1929) ने भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई, जो कि लगभग उसी समय प्रकाशित हुई, जिस समय *जीवन की एक आदर्शवादी दृष्टि*।

कल्कि का प्रारम्भिक भाग सार्वभौम सम्बन्धी अवनति तथा दुर्व्यवस्था का दुखान्त दृश्य है। आधुनिक जीवन का क्या कोई ऐसा अंश है, जो भ्रम से प्रभावित न हुआ हो? समय-सिद्ध समस्त संस्थाएँ विखण्डित होने को हैं। धर्म में अव्यवस्था का शासन है। विवाह अब एक संस्कार नहीं रह गया है। इच्छाओं की बहुलता ने हमारे आर्थिक सम्बन्धों पर प्रश्नचिह्न लगा दिया है। औद्योगीकरण ने रचनात्मक कलाकारों को एक मस्तिष्कहीन रोबोट (यंत्र मानव) में बदल दिया है। इस शताब्दी में हमने सर्वत्र लोकतन्त्र की अपेक्षा की थी, परन्तु अभी तक हम लोकतन्त्र का स्वाँग रचने में ही सफल हो पाये हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में तो अब सर्वत्र विरोधाभासों

का संत्रास शेष बचा है। क्या हमारी इस सभ्यता का कोई भविष्य है?

> "व्यक्ति (मानव) जोकि एक युद्धप्रिय प्राणी था, अभी भी जंगली बना हुआ है। आर्थिक सफलता हमारा सर्वोच्च आदर्श बनी हुई है। और प्रायः हमारी समस्त लड़ाइयाँ आर्थिक कारणों के कारण ही हुई हैं। अर्थशास्त्र हमारा धर्म हो गया है और साम्राज्य व्यवसाय। हम युद्ध झेलते हैं अपना व्यापार बढ़ाने के लिए, अपना भू-भाग (प्रशासन क्षेत्र) फैलाने के लिए तथा नये-नये उपनिवेश बनाने के लिए। व्यापार तथा बाज़ार के लिए हम अपनी बौद्धिक स्वतंत्रता की बलि दे देते हैं, क्योंकि यह सन्देह पैदा कर सकती है, हमारी भावनात्मक सहानुभूति, श्रमिक-वर्ग के शोषण तथा पिछड़ी जातियों पर शासन करने की हमारी कुशलता को प्रभावित कर सकती है, तथा हमारी कल्पना इसमें दृढ़ता के साथ हस्तक्षेप कर सकती है।"

यह 'एडवॉकेट्स डायबोली' (बुराई की मानवीकृत आत्मा-विधर्मी-देवता-दुष्ट आत्मा) की आवाज़ है। विफलता के इस बीहड़ में राधाकृष्णन द्वारा देवतत्त्व की हिमायत यह संकेत देती है कि सभी कुछ ख़त्म नहीं हुआ है। सभी कुछ सारतः कभी ख़त्म भी नहीं होता, क्योंकि सृष्टि कोई आकस्मिक घटना नहीं और सोद्देश्य विकास को व्यक्ति कल्पों (युग) में खोज सकता है।

> "जीवन की विशेषता के साथ पदार्थ के दान तथा गुणों—जैसे मस्तिष्क, बुद्धि तथा आत्मा के उत्तरावर्ती उद्भव ने एक स्थिर गति से अग्रिम दिशागमन को निर्दिष्ट किया है, बावजूद आवर्ती अवनति, स्थिरता, क्रूरता और मूढ़ता के। जैविक विकास की सामान्य दिशा विकासमान पूर्णता की ओर है।"

ह्वाइट हेड तथा थामसन, ओलिवर लॉज तथा लॉयड मार्गन जैसे वैज्ञानिक दार्शनिकों से राधाकृष्णन ने अपनी तात्कालिक उर्जा ग्रहण करते हुए स्थापित किया कि जीवन अन्तःस्थ का सार्वभौम सिद्धान्त इस विकासवादी चक्र के मूल में है। साथ ही उन्होंने उस काल में विद्यमान धर्मों को यह मानकर उपेक्षित नहीं किया कि इनका अब कोई महत्त्व नहीं रह गया है :

> "यह मानना कि मुझमें सत्य की एकान्तिक (एकमात्र, विशिष्ट) धारण क्षमता है अथवा यह कि सार्वभौम का अर्थविषयक मेरा अध्ययन पूर्ण है एक अहंवादी भ्रम है। प्रत्येक धर्म लोक-आत्मा का प्रतिनिधि है तथा इसकी सत्ता और आकांक्षा की आन्तरिक विधि है। प्रत्येक समूह अपने भीतर दैवी सत्ता रखता है, जिसमें कि वह विकसित होता है...समस्त मानवता के लिए सिर्फ़ कोई भी धर्म हमें जगत् की आध्यात्मिक समृद्धि से दूर ले जायेगा। यदि हम मानसिक

वंध्यत्व और मानवात्मा की जड़ता को रोकना चाहते हैं तो हमें किसी भी ऐतिहासिक धर्म के मूल्यों को अस्वीकार या उनका परित्याग नहीं करना चाहिए।"

भविष्य में धर्म आध्यात्मिकता तथा आचरण पर इतना वल देगा ताकि पूर्ण व्यक्ति विश्व-कल्याण के लिए कार्य कर सके। वैवाहिक सम्वन्ध की शर्त शारीरिक तथा आध्यात्मिक दोनों रूपों में मान्य होनी चाहिए। विवाह-विच्छेद के विरुद्ध राधाकृष्णन वड़ी सहजता से खड़े दिखाई देते हैं :

"यदि हम यह स्वीकार करते हैं कि विवाह संस्था कठिनाइयों और वाधाओं को स्वीकार करते हुए दो व्यक्तियों के विकास के लिए है, तो हम प्रत्येक कठिनाई को भावी प्रयास के लिए एक चुनौती के रूप में लेंगे। एक पूर्ण विवाह हमारी सर्वोच्च उपलब्धियों का प्रतिनिधित्व करता है।—यह माँग करता है कि पारस्परिक विभ्रमों, अपरिष्कृत विचारों और मनोवेगों, स्वभावगत विलक्षणताओं, अरुचियों तथा पारस्परिक ग़लतियों के वावजूद एक-दूसरे (पति-पत्नी) के प्रति निष्ठा रखनी चाहिए। तलाक यहाँ सदैव निन्दनीय है।"

हालाँकि पैसे को तिरस्कार के भाव से देखने की आवश्यकता नहीं है, पर पैसा हमारे जीवन का अधिनायक नहीं वनना चाहिए, जैसे कि लोकतंत्र के सन्दर्भ में स्मरणीय है कि 'कम शासित होने के लिए सर्वोत्तम शासित होना चाहिए।' क्योंकि महत्त्वपूर्ण अवसरों पर नौकरशाही का अत्यधिक नियंत्रण लोकतंत्र का गला घोंट सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्वन्धों में हमें विश्व-एकता से कम कुछ नहीं करना चाहिए। निष्कर्षतः राधाकृष्णन अपनी आस्था को अपने तात्त्विक प्रासाद से वाहर आकर मानव जाति के भविष्य की रक्षा के लिए धार्मिक व्यक्ति—अन्तर्ज्ञान एवं दृष्टिसम्पन्न व्यक्ति में लगाते हैं :

"शान्ति के लिए धार्मिक आदर्शवाद सर्वाधिक आशाजनक राजनीतिक उपकरण प्रतीत होता है, जोकि जगत् ने आज तक देखा है। हम मनुष्यों के संघर्षशील हितों तथा आकांक्षाओं को बहुत समय तक समायोजित नहीं कर सकते, क्योंकि हमें कर्तव्यों एवं अधिकारों के प्रति भी अपना पक्ष रखना है, सन्धियाँ तथा राजनयिक विवेक मनोवेग को रोक सकते हैं, किन्तु वे भय को समाप्त नहीं करते। विश्व को मानवता के प्रेम में लिप्त होना चाहिए। हमें उन धार्मिक नायकों की आवश्यकता है, जो सम्पूर्ण विश्व के रूपान्तरण की प्रतीक्षा नहीं करेंगे, बल्कि अपनी जीवन सम्पत्ति (गुण) प्रदान करेंगे, यदि आवश्यक हुआ तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की दृढ़ धारणा के सत्य को रेखांकित करेंगे, वे वीर

पुरुष जो महान् स्टेट होल्डर के सूत्र को स्वीकारेंगे : 'कार्य-भार लेने के लिए मुझे उम्मीद की आवश्यकता नहीं, और अध्यवसाय के लिए सफल होने की आवश्यकता नहीं।'"

तीसरी वीज गर्भित कृति जो राधाकृष्णन के दर्शन का सकारात्मक पक्ष प्रस्तुत करती है, 1955 में छपी *विश्वास का प्रतिलाभ* (रिकवरी ऑफ़ फ़ेथ) नामक इस कृति तथा आरम्भिक पुस्तकों के वीच दो महायुद्ध तथा कई परमाणु विस्फोट घटित हुए। राधाकृष्णन अव पहले से भी अधिक आश्वस्त थे कि केवल धार्मिक व्यक्ति ही मानवता के भविष्य को वचा सकता है। जैसा कि उन्होंने उक्त पुस्तक की प्रस्तावना के प्रारम्भ में कहा है :

"विज्ञान, व्यक्ति के जीवन में अत्यधिक हस्तक्षेप से विश्व के संभाव्य परिशोधन की अपनी नयी सम्भावनाओं के साथ में यह चेतावनी भी देता है कि पाप (सिन) की क़ीमत मृत्यु है। मनुष्य ने विज्ञान का विकास कर लिया है और यह विज्ञान ही अव उसका लक्ष्य-शिल्पी है : यह एक ऐसी भयानक भ्रान्ति है जिसने आज हमें दासता में जकड़ रखा है।

तथापि, राधाकृष्णन हमें सचेत करते हैं कि मानव जाति भ्रान्ति के ऐसे पलों में प्रायः शिकार हुई है। सेंट ऑगस्टाइन तथा सेंट जेरोम ने रोम के पतन पर विलाप किया है। थ्यूसीडाइड्स ने दुखी भाव से एथेंस (एथेनियन) साम्राज्य की अवनति को प्रमाणित किया है, इसी तरह चार हज़ार साल पूर्व के एक पेपीरस ने प्रमाणित किया है कि एक अवाधित पतन ने उस सभ्यता को प्रभावित किया। हमारे युग को जो श्रेणी विभाजित रखता है, वह है शीतयुद्ध ग्रस्त विश्व का दो युद्धरत गुटों में विभाजन, तथा परमाणु शक्ति का आविष्कार, जो कि इस दुनिया के अस्तित्व तक को विना पल-भर की सूचना दिये समाप्त कर सकती है :

"अपने द्वारा नियंत्रित सभी संसाधनों, अपने में अन्तर्निहित सभी उपहारों, तथा उन सभी शक्तियों के साथ भी जिनका हमने विकास किया है, हम शान्ति और सुरक्षा सहित रहने में असमर्थ हैं। हमने अपने ज्ञान तथा पाण्डित्य में वृद्धि की है, विवेक और गुण में नहीं। विवेक और गुण के अभाव में वस्तुएँ एक स्थायी संघर्ष में आवद्ध रहती हैं।"

यह कहना कि हमारा वर्तमान मात्र अतीतजन्य निराशा की तीक्ष्णतर कल्पना है, हमें सान्त्वना नहीं दे सकता! राधाकृष्णन स्पष्ट उद्धरण देते हुए हमें भाग्य के हाथों निर्दय विनाश से उत्पन्न निस्सहाय सम्वेदना के ख़िलाफ़ सचेत करते हैं :

"यह मानना कि हम असहाय हैं और ऐसी धारा में फँस गये हैं जो

अंततः हमें गर्त में ले जाती है, एक निराशा तथा नाशवाद के दर्शन को गले लगाना है। हम इस धारा के विरुद्ध तैर सकते हैं और इसकी दिशा को भी वदल सकते हैं।"

राधाकृष्णन का सुझाव व्यक्ति, प्रकृति तथा ईश्वर के एकांगी विचारों को त्यागने का है। केलविग, कांट, स्पेंसर, हीगेल, मार्क्स, नीत्शे, स्पेंगलर—मनुष्य की वर्तमान परिस्थिति ने इन सभी तथा कई दूसरों को भी उकसाया है कि वे इसका विश्लेषण करें तथा अपनी राय दें। परन्तु इनमें से कोई भी यथार्थतः प्रेरक व्यक्ति के लिए आगे जाता प्रतीत नहीं होता—"हम स्वयं को उदासीन, मानवद्वेषी, तथा हताश महसूस करने लगे हैं कि अपने चारों ओर फैली वुराइयों को रोकने में हमारा कोई भी कार्य सफल नहीं हो सकता।"

और भी, वास्तव में मानव जाति के लिए स्वयं को असहाय समझने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यथार्थ में तो यह स्वतंत्रता की सृष्टि है। आप उसे (मानव को) अनेक 'वादों, अन्धविश्वासों तथा परम्पराओं के घेरे में रख सकते हैं, फिर भी वह विजयी होगा। जव तक विश्वास की किरण मानव सृष्टि का एक अंग वनी रहेगी, तव तक मानवता को आगे बढ़ने से कोई नहीं रोक सकता। यहाँ तक कि अटल भाग्य अथवा अपरिवर्तनीय कर्म-सिद्धान्त भी अथक मानवीय परिश्रम से वदला जा सकता है :

"मनुष्य को अपनी आधारभूत मानवीय प्रकृति से ऊपर की ओर गमन करना चाहिए, जो उसे पशुवृत्ति से उठाकर उच्चादर्श तक पहुँचाता है। एक मानव व्यक्तित्व वस्तुओं में नहीं है, जिसमें उसके स्व का कोई अर्थ न हो। वह कोई मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया नहीं है, जो पूर्णतः प्रतिबन्धित (शर्ताधारित) होती है। यदि उसे इन्द्रियग्राही वनाकर उसकी व्यक्तिनिष्ठता से दूर कर दिया गया है, तो वह कर्म अथवा आवश्यकता से पीड़ित है। मनुष्य के लिए यह सम्भव है कि वह विषयगत घटनाओं से बच सके। वह स्वयं का 'आत्म' (हिमसेल्फ़) बन सकता है। मानव जाति का सम्पूर्ण इतिहास स्वतंत्र होने का एक अनवरत प्रयास है। वुद्ध, सुकरात, ज़रथुस्त्र, जीसस आदि के द्वारा मनुष्य में उद्घाटित प्रकाश हमारे सामने मानव-प्रकृति की दैवी सम्भावनाओं को उजागर करता है तथा हमें 'स्व' (आवरसेल्फ़) बनने को प्रोत्साहित करता है।'

यद्यपि तलवार भाँजती महाशक्तियों तथा सहज ही गोलीबारी करती लघु शक्तियों की प्रचण्ड उत्तेजनाओं से यह प्रतीत होता है कि परमाणुविक प्रलयकाल एकदम निकट है, परन्तु राधाकृष्णन हमें आश्वस्त करते हैं कि 'सर्वनाश (नाशवाद) की प्रवृत्ति अवश्यम्भावी नहीं है।' इस वैज्ञानिक-तकनीकी दुःस्वप्न को रोकने के लिए,

जिसने मानवता को हिटलर के आस्वविज़ तथा ट्रूमैन के हिरोशिमा-नागासाकी दृश्य दिखाये हैं, मनुष्य को आत्मा में अपना विश्वास जगाना होगा और आत्म-शक्ति से ही विश्व का पुनर्निर्माण करना होगा।

विश्वास और व्यवहार साथ-साथ चलते हैं। यदि हम रक्त, जाति तथा भूमि में विश्वास करेंगे तो हमारा विश्व वेलसेन तथा वकेन वाल्ड्स (वैज्ञानिक-दार्शनिक) से भर जायेगा और यदि जंगली जानवरों जैसा वर्ताव करेंगे तो हमारा समाज भी जंगल हो जायेगा। यदि हम सार्वभौम आध्यात्मिक मूल्यों में विश्वास करेंगे, तो शान्ति एवं समझदारी विकसित होगी। एक अच्छा पौधा अच्छे फल देता है। राधाकृष्णन हमें गोइठे के सन्देश की याद दिलाते हैं कि 'विश्वास से शासित युगों में उनकी निजी क्रान्ति तथा परमानन्द था, जबकि उन युगों में, जहाँ अविश्वास अपनी घृणित विजय को रेखांकित करता है, तमाम भावी पीढ़ियों के लिए अनुर्वरता स्थिर हो जाती है।' राधाकृष्णन का अपना विचार स्पष्ट है :

> "मानव-जाति की तरह मानव-समाज भी विश्वास से जीते हैं और जब विश्वास समाप्त होता है तो ये भी समाप्त हो जाते हैं। यदि हमारे समाज को स्वस्थ रहना है तो अपने विश्वास को पुनः प्राप्त करना होगा। हमारा समाज इतना रुग्ण नहीं है कि इसका उपचार असाध्य हो गया है, हालाँकि यह विभक्त निष्ठाओं, संघर्षरत विवादों (तर्कों) तथा उमंग और निराशा के परिवर्तित विचारों का शिकार हो रहा है। तीव्र व्यथा की इस स्थिति में हमारा विवेक ही आशा है। हमें एक विश्वास की आवश्यकता है, जो आत्मा की शक्ति को अन्य वस्तुओं के ऊपर स्थापित करेगा तथा उस जगत् में महत्त्व प्राप्त करेगा, जिसमें विज्ञान और संगठन पारम्परिक मूल्यों से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर चुके जान पड़ते हैं।"

मनुष्य के अपने भविष्य में विश्वास की इस वापसी योजना में धार्मिक अनुशासन का एक निश्चित स्थान है। हालाँकि अतीत के सभी धर्मों ने आधार अभिवृद्धियाँ प्राप्त कर ली हैं, उनका गूढ़ तत्त्व अक्षुण्ण है। जब हम इस सत्य को समझ लेते हैं तो हम तत्काल अगोचर (इन्द्रियातीत) परम से जुड़ जाते हैं तथा विश्वबन्धुत्व का आँचल पसार देते हैं।

राधाकृष्णन भावात्मक रूप से इस सम्भावना में विश्वास करते थे। यह उनकी प्रार्थना और आशा थी। 1931-1939 के दौरान बौद्धिक सहयोग की अन्तर्राष्ट्रीय समिति के सदस्य रहते हुए उन्होंने विश्व को एक साथ रखने की आवश्यकता दुहरायी। दो दशक बाद जब द्वितीय महायुद्ध का संत्रास तथा परमाणु बम जैसी भयावहता घटित हुई तो राधाकृष्णन ने सुनिश्चित सन्दर्भों में कहा कि मानव जाति

का भावी अस्तित्व सार्वभौमिक एकता में निहित है और यह सार्वभौम एकता केवल अन्तर्विश्वासी सम्वाद तथा अन्तर्धार्मिक विवेक में ही सुनिश्चित की जा सकती है :

> "धार्मिक जीवन के विविध स्वरूपों का अध्ययन हमें व्यक्ति-जीवन के लिए धर्म की गहन महत्ता का विचार दे सकता है। मानव संस्कृति के विकास के लिए विभिन्न धर्मों का प्रयोग भवन निर्माण में प्रस्तरों की भाँति किया जाना है, जिसमें विभिन्न धर्मानुयायी एक सत्ता (परम) सन्तति की तरह भ्रातृवत् एकीकृत हो सकते हैं। प्रत्येक धर्म अपने अनुयायियों को आसक्तकारी आशा का सन्देश देता है। विश्व एक नये विश्वास को जन्म देगा, जोकि एक-दूसरे रूप में पुराना विश्वास ही होगा। यह विश्वास सभी युगों के लिए होगा, मनुष्य में सम्भावित देवत्व मानव जाति की एकता के उस सर्वोच्च उद्देश्य के लिए कार्य करेगा जो हमारे हृदय तथा आत्मा में अंकित है।"

8

शिक्षाशास्त्री

राधाकृष्णन एक शिक्षक, उपकुलपति और शिक्षा शास्त्री थे, भारतीय शिक्षा से उनका जीवनपर्यन्त लगाव अकादमिक (शैक्षिक) समुदाय के लिए व्यापक रूप में लाभप्रद था। वे विश्वविद्यालय की स्वायत्तता के कट्टर समर्थक थे। अपने दीक्षान्त भाषणों में उन्होंने बार-बार इस बात पर ज़ोर दिया कि इन संस्थाओं को रूपान्तरकारी उपकरण बनना चाहिए तथा अपने भविष्य को महान् बनाने के लिए भारत की *प्राचीन समृद्ध संस्कृति* का उपयोग करना चाहिए। उन्होंने घोषित किया कि *विश्वविद्यालय मानवतावाद, सहिष्णुता, विचारों और सत्य की साहसिक खोज के लिए स्थापित हुए हैं।* उन्होंने विश्वविद्यालयों को मात्र डिप्लोमा (डिग्री) मिल बना देने पर कड़ी अप्रसन्नता व्यक्त की :

> "विश्वविद्यालयी प्रशिक्षण का मूल्य सूचना-संग्रहण में नहीं है, जैसा कि वैज्ञानिक प्रवृत्तियों ने विकसित किया है। विद्यार्थी को ज्ञान से विचार को तथा सिद्धान्त से तथ्य को अलग करना सीखना चाहिए तथा साक्ष्य को तोलने, तर्क प्रस्तुत करने तथा प्रतिपक्षी के विचारों को निष्पक्षता से जाँचने के योग्य बनना चाहिए। शोध की आत्मा इसके सिवा कुछ भी नहीं है कि स्वतंत्र परीक्षण तथा विवेकपूर्ण चिन्तन के दृष्टिकोण को जारी रखा जाए।"

यद्यपि कलकत्ता विश्वविद्यालय में अपने अध्यापन काल के प्रारम्भिक दौर में उन्होंने विश्वविद्यालय के प्रशासनिक मामलों से अपने को दूर रखना चाहा, परन्तु जदुनाथ सरकार के उप-कुलपति बनने पर उन्हें मजबूरन परिसर की राजनीति में खींच लिया गया। विश्वविद्यालय की वार्षिक रिपोर्ट में जदुनाथ सरकार द्वारा अपनी उपलब्धियों की उपेक्षा से अप्रभावित रहकर राधाकृष्णन ने विश्वविद्यालय की शिक्षण पद्धति की तीव्र आलोचना की, क्योंकि वहाँ सोचने और करने की नहीं, झुकने और वशीभूत होने की शिक्षा दी जा रही थी। राधाकृष्णन को सर्वसम्मति से कला संकाय की स्नातकोत्तर परिषद का अध्यक्ष चुना गया। इससे उपकुलपति तथा शिक्षक वर्ग के बीच खुली दरार पैदा हो गयी। साइमन कमीशन के विरुद्ध प्रदर्शन कर रहे छात्रों को नियंत्रित करने के लिए उपकुलपति द्वारा बुलायी गयी पुलिस

से छात्रों की मुठभेड़ में कई छात्र घायल हो गये। राधाकृष्णन को सिण्डिकेट द्वारा आदेश मिला कि वे इस घटना की जाँच करें। उन्होंने परिसर में पुलिस बुलाने के लिए उपकुलपति की कड़ी आलोचना की।

1931 में राधाकृष्णन स्वयं आन्ध्र विश्वविद्यालय के उपकुलपति बने। 1927 में उन्होंने विश्वविद्यालय के प्रथम दीक्षान्त समारोह को सम्बोधित किया था और यह सिद्ध करने की कोशिश की थी कि विश्वविद्यालयी आदर्श भारत के लिए कोई नई बात नहीं। राधाकृष्णन का अतीत का आत्मगौरव समकालीन प्रभाव में सदैव महत्त्वपूर्ण रहता था और शैक्षिक क्षेत्र को इस दृष्टिकोण का अच्छा लाभ मिलता था। भारत में तक्षशिला, नालन्दा, विक्रमशिला, धरनीकोटा, बनारस, नवद्वीप तथा अनेक अन्य शिक्षाकेन्द्र थे :

> "विश्वविद्यालय, समस्त शिक्षक तथा छात्र एक सामूहिक अस्तित्व का अनुभव करते थे। शिक्षा के ये पीठ देश के श्रेष्ठ मस्तिष्क, इसकी चेतना तथा आदर्शों के विकास के लिए उत्तरदायी थे। इन्होंने वह सब उत्पन्न करने में मदद की, जिसे हम विश्वविद्यालय जगत कह सकते हैं—सांस्कृतिक विचारों का एक समुदाय, मौलिक लक्ष्यों तथा विचारों के क्षेत्र में एक व्यापक समरुचिपूर्णता। आज की परिवर्तित परिस्थितियों में विश्वविद्यालय ही हैं, जिन्हें विचारों और आदर्शों की दुनिया में नेतृत्व प्रदान करना है।"

राधाकृष्णन ने जो सचमुच घटते हुए देखा, वह था सभी मूल्यों का स्थिर गति से विघटन तथा शिक्षक और शिक्षार्थी के बीच एक अशोभनीय छुपाव की परम्परा। वहाँ विश्वविद्यालय की स्वायत्तता का भी अभाव था और बिना स्वायत्तता के वे संस्थाएँ प्रगतिशील नहीं बन सकती थीं। आन्ध्र विश्वविद्यालय के अपने प्रथम पंचवर्षीय कार्यकाल में संस्था के निर्माण हेतु उन्हें सुनहरा अवसर मिला। वाल्टेयर में उनका पंचवर्षीय निवास चतुर्दिक् विकास के लिए रेखांकित हुआ। स्पष्ट ही एक शैक्षिक द्रष्टा कार्य कर रहा था और उन्होंने शीघ्र ही युवा तथा कुशल शिक्षकों का स्टाफ़ खड़ा कर दिया, जैसे हुमायूँ कबीर, हीरेन मुखर्जी, टी.आर. शेषाद्रि तथा अन्य। शैक्षिक नियुक्तियों में उन्होंने विभाजन का अवसर नहीं दिया तथा विश्वविद्यालय देदीप्यमान हो उठा।

चार वर्ष पूर्व नवस्थापित विश्वविद्यालय में अपने दीक्षान्त भाषण में राधाकृष्णन ने कहा कि यहाँ सांस्कृतिक अतीत पर पर्याप्त ध्यान दिया जाए, ताकि भारतीय पुनर्जागरण में विद्यार्थीगण उपयुक्त भूमिका निभा सकें। परन्तु यह दृष्टिकोण किसी प्रतिक्रिया में नहीं था, बल्कि वे व्यापक समझदारी और मुक्त हृदय से आत्मसातीकरण तथा सोद्देश्य सृजन के लिए कह रहे थे :

अतीत का रचनात्मक रूढ़िवाद प्रतिक्रियावादी तथा अतिवादी धाराओं का मध्यवर्ती विन्दु है। जब हम भारतीय संस्कृति के इतिहास का प्रारम्भिक काल से अध्ययन करते हैं--बहुत नहीं तो चार-पाँच हज़ार वर्ष पूर्व सिन्धु घाटी सभ्यता से आज तक—एक विशेषता जो इसके समस्त विकास-काल में व्याप्त मिलती है, वह है इसकी नमनीयता तथा आवश्यकताओं के अनुरूप प्रतिक्रिया की क्षमता। समय-समय पर अपनी साहसिक उदारता तथा दुःसाहसिकता के साथ इसने अन्य प्रणालियों के चिन्तन और विश्वास में सत्य के तत्त्वों को अपनाया। यह दूसरों से शिक्षा पाने में अतिरिक्त गर्वीला कभी नहीं रहा और अपनी आवश्यकतानुसार अपनी शैलियाँ स्वीकृत कीं, यदि हम इस सत्य (आत्मा) को धारण कर लें तो हम बढ़ते हुए विश्वास एवं शक्ति से भविष्य का सामना कर सकते हैं।"

लेकिन साथ ही, उसी समय उन्होंने वैज्ञानिक तकनीकी युग को अस्वीकार नहीं किया। यह सच है कि हमारी सभ्यता आत्मा (स्पिरिट) के आधार पर खड़ी हुई है, परन्तु इसने वाह्य संगठन की शक्ति को अस्वीकार नहीं किया है। अतः विश्वविद्यालयों की कोशिश यह होनी चाहिए कि वे एक अल्पविकसित उप महाद्वीप के लाखों अभागों को अच्छा और उत्कृष्ट ज्ञान देने के लिए विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हमारा ज्ञानवर्धन करें :

"एक आध्यात्मिक सभ्यता आवश्यक रूप से दरिद्रता तथा कोई रोग नहीं है और न ही यह मनुष्य-चालित कोई रिक्शा या ठेला है। इसे मात्र यह कहा जा सकता है कि माणिक्य की तुलना में विवेक अधिक मूल्यवान है, और विवेक व्यक्ति पर कुछ भी क्यों न घटित हो वह खुश रहता है तथा यह मानना है कि आध्यात्मिक उन्नति के लिए निर्धनता और जर्जर स्वास्थ्य भी सहायक ही है। हालाँकि निर्धनता तभी आध्यात्मिक है, जब वह स्वैच्छिक हो, जबकि दरिद्रता (स्थूल निर्धनता या क्रॉस पावर्टी) हमारे आलस्य और असफलता की निशानी है। हमारा जीवन-दर्शन स्वास्थ्य के विकास और समृद्धि को मानव-प्रयत्न के वैध उद्देश्यों के लिए स्वीकृत करता है।"

1931 में 'इण्डियन फ़िलॉसॉफ़ी' शीर्षक से लिखा गया उनका लेख देखना महत्त्वपूर्ण है, जिसे उन्होंने श्री अरविन्द के 'आर्य' में लिखे गये लेख के उद्धरणों से पुष्ट किया है :

"यदि उपनिषद्, बुद्ध अथवा बाद के शास्त्रीय युग के समय के किसी प्राचीन व्यक्ति को आधुनिक भारत में लाया जाये तो वह देखेगा कि उसकी जाति

अतीत के रूपों, टुकड़ों तथा आवरणों से चिपकी हुई है तथा अपने आदर्श-अभिप्राय का नौवाँ-दसवाँ भाग खोती जा रही है...। वह मानसिक निर्धनता, जड़ता, कठोर पुनरुक्ति, विज्ञान के अवसान, कला की व्यापक अनुर्वरता, तथा रचनात्मक अन्तर्दृष्टि की तुलनात्मक दुर्बलता देखकर भौंचक्का रह जायेगा।"

अतः यह स्पष्ट है कि राधाकृष्णन ने शिक्षा की एक ऐसी अभिन्न योजना लागू करनी चाही, जो विज्ञान को प्रोत्साहित कर सके, साथ ही साथ उन विभाजक दीवारों को गिरा सके जो मनुष्य जातियों (मानवता) एवं विज्ञान के बीच खड़ी कर दी गई हैं। इन सव विचारों को अव व्यवहार में लाये जाने का अवसर है। उन्होंने अनेक शास्त्रों (विषयों) में ऑनर्स तथा स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम चालू किये। सी.वी.रमन से विज्ञान विषयक पाठ्यक्रम तय करा पाने में सफलता पायी। प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में उन्होंने एम.विश्वेश्वरैया से पाठ्यक्रम तय करवाया। विज्ञान तथा कला संकायों के लिए बड़े-बड़े भवन—पुस्तकालय भवन एवं छात्रावास—बने। राधाकृष्णन ने तेलुगु में भी वैज्ञानिक तथा रचनात्मक लेखन को प्रोत्साहित किया और अनेक व्याख्यानों का आयोजन किया। व्याख्यान देने तथा एक नृत्य-नाटिका के निर्देशन के लिए उन्होंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर को बुलाया। निश्चय ही, इस सबके लिए पर्याप्त धन की ज़रूरत थी, परन्तु कुलपति तथा अन्य सरकारी कर्मचारियों के साथ अच्छे सम्बन्धों के चलते उन्हें अपने सभी माँगपत्रों पर अनुकूल आश्वासन मिला। उनकी अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति ने उन्हें अनेक प्रदेशों में श्रद्धा का पात्र बना दिया तथा देशी राजाओं को सहयोग के लिए प्रेरित किया। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान उन्हें महाराजा जयपुर से मिला था, जिन्होंने अनुदान आदि से अनेक वर्षों तक विज्ञान कॉलेज को परिपोषित किया।

यद्यपि, ऑक्सफ़ोर्ड में स्पाल्डिंग पद स्वीकार करने के बाद राधाकृष्णन अपनी गुणात्मक बेहतरी के लिए विश्वविद्यालय प्रशासन से मुक्ति चाहते थे, परन्तु 1939 में द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो जाने पर उन्हें वापस भारत आना पड़ा। अब उन्हें वनारस हिन्दू विश्वविद्यालय (बी. एच. यू.) का उपकुलपति बनना पड़ा और उन्होंने सरकार तथा कांग्रेस के परस्पर विरोधी तनाव के बीच विश्वविद्यालय को कुशलतापूर्वक संचालित किया। सरकार ने जब यह आदेश दिया कि सेना विश्वविद्यालय परिसर को अपने नियंत्रण में ले ले, तो राधाकृष्णन ने इस मामले का दृढ़ता से सामना किया, उन्होंने देशभक्त छात्रों का पक्ष लिया तथा विजय पाई। कोई भी सरकारी ताक़त उन्हें विश्वविद्यालय की स्वायत्तता छोड़ने को विवश नहीं कर सकी, और इसकी वकालत वे अपने प्रारम्भिक दिनों अर्थात् कलकत्ता विश्वविद्यालय के दिनों

से ही करते आ रहे थे। न ही उन्होंने नौकरशाही को खुश करने के लिए महात्मा गाँधी के प्रति अपनी श्रद्धा तथा जवाहरलाल नेहरू से अपनी मैत्री को त्यागा। 1942 में उन्होंने विश्वविद्यालय के रजत जयंती समारोह में महात्मा गाँधी को मुख्य अतिथि के रूप में आमंत्रित किया। इसी तरह उन्होंने राष्ट्रवादी नेताओं—जैसे डॉ. राजेन्द्र प्रसाद तथा पं. जवाहरलाल नेहरू को मानक उपाधियाँ प्रदान कीं।

भारत के स्वाधीनता प्राप्त करने पर जवाहरलाल नेहरू ने उन्हें 'विश्वविद्यालय आयोग' की अध्यक्षता के लिए आमंत्रित किया। इस आयोग में ज़ाकिर हुसैन, आर्थर मार्गन (टेनेसी घाटी अधिकरण के प्रथम सभापति) तथा डर्हम यूनिवर्सिटी के उपकुलपति जेम्स डफ़ जैसे प्रख्यात शिक्षाशास्त्री शामिल थे। इस आयोग की रिपोर्ट, राधाकृष्णन की कृति *'एजुकेशन, पॉलिटिक्स एण्ड वार'* (शिक्षा, राजनीति और युद्ध) तथा उनके द्वारा दिये गये अनेक दीक्षान्त भाषण राधाकृष्णन को एक विरल प्रतिभावान शिक्षाशास्त्री सिद्ध करते हैं।

राधाकृष्णन की रिपोर्ट पर टिप्पणी करते हुए प्रोफ़ेसर रमेश मोहन ने कहा, "स्वाधीन भारत में उच्च शिक्षा के पुनर्निर्माण तथा विकास के लिए यह राष्ट्र को पहली बार उपलब्ध सुचिन्तित तथा सम्पूर्ण ख़ाका है।" (रिपोर्ट का एक अनिवार्य विचार यह था कि सामान्य, स्वैच्छिक तथा व्यावसायिक शिक्षा घोषणाओं से दूर यह रिपोर्ट इस बात का उल्लेख करती है कि—शिक्षा एक जटिल मुद्दा है और इसके घेरे में राजनीति, प्रशासन, पेशा तथा वाणिज्य सभी आते हैं। और वे जो उच्च शिक्षा के साथ जुड़े हुए हैं, नये भारत के निर्माण में उनका महानतम उत्तरदायित्व है :

> "यदि भारत को अपने समय की उलझनों का सामना करना है तो उसे अपने निर्देशन के लिए उनकी ओर नहीं देखना चाहिए, जो मात्र बीतते समय की अपेक्षाओं में खो गये हैं, बल्कि उसे देश के अनुभवी और विद्वान व्यक्तियों, कवियों, कलाकारों, शोधार्थियों तथा अन्वेषकों की ओर मुड़ना चाहिए। सभ्यता के ये बौद्धिक पथ-प्रदर्शक विश्वविद्यालयों में ही प्राप्त तथा प्रशिक्षित किये जा सकते हैं क्योंकि वे ही राष्ट्र के आन्तरिक जीवन के अभयारण्य हैं।"

शिक्षा तथा शोध साथ-साथ चलनी चाहिए। शैक्षिक समस्या को सामाजिक समस्या के साथ जोड़ देना चाहिए तथा व्यक्ति को अपने समुदाय की आध्यात्मिक तथा भौतिक ज़रूरतों को भी ध्यान में रखना चाहिए। दूरदर्शिता के साथ उस रिपोर्ट ने विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में कृषि, वाणिज्य, शिक्षा व्यवसाय, प्रशासन, लोकप्रशासन तथा औद्योगिक आदि विषयों को मान्यता दी। धार्मिक शिक्षा को भी एक आवश्यक अंग माना गया। रिपोर्ट में विश्वविद्यालय स्तर पर शिक्षण माध्यम के रूप में अंग्रेज़ी

में दक्षता को प्रभावित किये बिना क्षेत्रीय माध्यमों की साहसिकता पूर्ण वकालत की गयी :

> "अंग्रेज़ी का अध्ययन जारी रखना चाहिए। यह ऐसी भाषा है जो साहित्य मानविकी, विज्ञान तथा तकनीकी में सक्षम है। यदि भावना के वशीभूत होकर हम अंग्रेज़ी को बन्द कर देते हैं, तो ज्ञान की विकासमान तथा सजीव धारा से स्वयं को काट लेंगे। विश्व से अपने अलगाव को रोकने का एकमात्र साधन अंग्रेज़ी ही है, और यह हमारा मूर्खतापूर्ण कार्य होगा कि हम स्वयं को अज्ञानता के एक अंधेरे पर्दे में बन्द कर लें।"

परीक्षा-पद्धति में सुधार के लिए राधाकृष्णन ने प्रत्याशियों (विद्यार्थियों) के वस्तुनिष्ठ परीक्षण पर ज़ोर देने की सिफ़ारिश की। उन्होंने यह भी आशा व्यक्त की कि विश्वविद्यालय की डिग्री को सरकारी नौकरियों से अलग कर दिया जायेगा। विश्वविद्यालय प्रणाली में प्रोफ़ेसर मुख्य व्यक्ति था :

> "विश्वविद्यालय कर्मचारियों का स्तर-विभाजन अनुभव, विद्वत्ता, शोध तथा शिक्षण-योग्यता पर आधारित है। सर्वोच्च पद—प्रोफ़ेसर के लिए इन सभी का ज्ञान उच्च स्तर का होना चाहिए। सामान्यतः प्रोफ़ेसर एक ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जो उच्च कक्षाओं में कई वर्षों तक पढ़ा चुका हो तथा उसने अपनी विद्वत्ता स्थापित कर ली हो। उसे मात्र संकीर्ण विशेषज्ञ नहीं होना चाहिए, बल्कि व्यापक रुचि एवं दृष्टि रखनी चाहिए ताकि वह अपने विभाग में अपने सहयोगियों को प्रेरित तथा प्रोत्साहित कर सके और साथ ही विश्वविद्यालय की शैक्षिक समस्याओं के समाधान के लिए प्रभावी योगदान दे सके। यह भी समान रूप से महत्त्वपूर्ण है कि उसे ज्ञान के विकास में महत्त्वपूर्ण रुचि लेनी चाहिए। उसे न केवल अपने अध्ययन की शाखाओं के अद्यतन विकास के साथ जुड़ा हुआ होना चाहिए, बल्कि उस काफ़िले का सक्रिय सदस्य होना चाहिए, जो ज्ञान का बहुमूल्य भार लेकर आगे बढ़ रहा है।"

राधाकृष्णन की रिपोर्ट अपनी परिधि के अन्तर्गत अन्य प्रभावकारी विषयों—जैसे कि आरक्षण, स्त्री-शिक्षा तथा ग्रामीण विश्वविद्यालय को भी सम्मिलित करती है। उसने उच्च शिक्षा की इन संस्थाओं के लिए वित्तीय सुविधा दिये जाने की भी सिफ़ारिश की :

> "समस्त आवश्यक व्यय उपलब्ध करा पाने की सम्भावना हम प्रान्तों में नहीं देखते। मौलिक, द्वैतयिक तथा तकनीकी विद्यालयों की अत्यावश्यक ज़रूरतों

को पूरा करने में उन पर भारी बोझ पड़ेगा। इसके लिए केन्द्र से अपेक्षित अनुदान आना चाहिए, और इन अनुदानों को केन्द्र द्वारा आँख मूँदकर अथवा यंत्रवत् नहीं बाँटा जायेगा और न ही उसे ऐसा करना चाहिए। केन्द्र सरकार द्वारा उपलब्ध कराये गये धन का वितरण शिक्षा मंत्रालय के तहत कार्य कर रहे एक केन्द्रीय विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को करना चाहिए।"

फिर भी सरकारी अनुदान से विश्वविद्यालय का ख़र्च चलने का मतलब यह नहीं होना चाहिए कि उनकी स्वायत्तता कम कर दी जाए। रिपोर्ट इस बात को स्पष्ट करती है :

"निश्चय ही उच्च शिक्षा राज्य का दायित्व है, पर राजकीय अनुदान से ये भ्रम नहीं होना चाहिए कि शैक्षिक नीतियों एवं व्यवहारों पर राज्य का नियंत्रण है। बौद्धिक प्रगति आत्मा के उन्मुक्त अन्वेषण की माँग करती है। परिणामों की चिन्ता किये बिना सत्य का अनुसरण तथा व्यवहार विश्वविद्यालयों का लक्ष्य हो गया है।"

जब भी राधाकृष्णन ने शिक्षा पर वक्तव्य दिया, अपने विषय को उन्होंने शैक्षिक बाज़ार के मोल-तोल से ऊपर उठाकर श्रोताओं में आदर्शवाद की अनुभूति जगाई। शिक्षा को उन्होंने सामाजिक श्रेष्ठता अथवा कार्यालयी रोज़गार पाने का मात्र वीज़ा (पासपोर्ट) नहीं समझा। शिक्षा मानव जाति को इतना अनुशासित तथा प्रेरित करे कि वह स्वयं को इतना आगे बढ़ा सके कि उसे राधाकृष्णन का आदर्श-धार्मिक व्यक्ति का प्रादुर्भाव-प्राप्त हो जाए। शिक्षा को उन्होंने मानव-आत्मा की पुनर्प्राप्ति का मार्ग बताया। सही शिक्षा विवेकशील मानवों को उत्पन्न करती है, जो कि रूढ़िवाद को त्याग देंगे तथा धार्मिक आत्मा के विशुद्ध स्रोतों को पुनः प्राप्त करेंगे। जैसा कि उन्होंने अपनी पुस्तक *'एजुकेशन, पॉलिटिक्स एण्ड वार'—शिक्षा, राजनीति और युद्ध* में लिखा है :

"शिक्षा का लक्ष्य आत्म-ज्ञान है, क्योंकि आत्मतत्त्व एक शान्ति विभेदी आत्मा है। यदि हम आन्तरिक व्यक्ति (मानवात्मा) को एक ट्यूटन अथवा गाउल, एक सैक्सन अथवा पुजारी, एक सर्वहारा अथवा बुर्जुआ के रूप में नहीं, बल्कि जगत् में एक स्थायी तत्त्व का सामना करने वाले के रूप में समझेंगे, तभी हम सच्चे मानव हैं। हमारी शिक्षा को बालमन की सहज आकांक्षाओं तथा लक्ष्यों को पूर्ण करना चाहिए, जोकि स्वयं को समग्र मानवता के साथ जोड़ते हैं। बोधपूर्ण शिक्षा को इन प्राकृतिक आवेगों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।"

राधाकृष्णन ने आज के सर्वोत्तम विकल्प के रूप में प्राचीन भारतीय शिक्षा

के आध्यात्मिक दृष्टिकोण को चुना। केवल 'मंत्रविद्' (शास्त्रों का ज्ञाता) होना काफ़ी नहीं है। 'आत्मविद् (आत्मा का ज्ञाता) हो जाता है। एक विलक्षण उत्तरदायित्व शिक्षक पर निर्भर करता है जो इस रूपान्तरण को प्राप्त करेगा तथा आध्यात्मिक व्यक्ति के विकास में सहायक होगा :

> "सच्चा धर्म यह मानता है कि ईश्वर का रूप प्रत्येक व्यक्ति में है, चाहे उसकी जाति अथवा पन्थ कुछ भी हो। यह कुछ अन्य 'आत्म' पर नहीं, चाहे वह आत्म वुद्ध अथवा मसीहा का ही क्यों न हो। यह 'आत्मज्ञान' मात्र अनुकरणात्मक नहीं है, बल्कि सूक्ष्म सजगता पर आधारित है। विशुद्ध आध्यात्मिकता समस्त धार्मिक नामकरणों को पार कर जाती है तथा अपने सभी पक्षों में विश्व के मानवीकरण अथवा आध्यात्मीकरण की माँग करती है। आध्यात्मिक जागरूकता तथा सामाजिक सद्भाव एक स्वतंत्र समाज के दो पहलू हैं। यहाँ मानव आकांक्षा (आवश्यकता) की एक समझ होती है और शिक्षक इसे उपलब्ध करा सकता है। एक युवक को मानव की मौलिक शक्ति तथा उत्कर्ष का विचार देकर, एक मनुष्य के रूप में उसकी आध्यात्मिक प्रतिष्ठा विकसित कर तथा एक पराराष्ट्रीय संस्कृति तथा सर्वसमावेशी मानवता की शिक्षा देकर उस समझ को उपलब्ध करा सकता है।"

9

राजनेता

राधाकृष्णन के व्यक्तित्व के अनेक पहलुओं में से एक दार्शनिक-राजनेता के पहलू को जनता ने सर्वाधिक पसन्द किया। राधाकृष्णन के रूप में लोगों को प्लेटो का आदर्श नज़र आने लगा था। मूलतः एक सार्वभौमवादी होते हुए उन्होंने भारत के प्रभावशाली सांस्कृतिक राजदूत के रूप में उस समय कार्य किया। जब उन्होंने ऑक्सफ़ोर्ड के अपने विजय-प्रवास के दौरान मानचेस्टर तथा लन्दन में हिबर्ट व्याख्यान दिये। राष्ट्रसंघ (लीग ऑफ़ नेशंस) द्वारा स्थापित बौद्धिक सहयोग की अन्तर्राष्ट्रीय समिति के लिए 1930 में इन्हें सर जगदीशचन्द्र बोस के स्थान पर भारत का प्रतिनिधि बनाया गया। स्वाधीन भारत में ये मास्को में भारत के राजदूत, भारत के उपराष्ट्रपति तथा राष्ट्रपति बने।

ये सभी ऐसे पद थे, जिनके लिए न केवल राजनीतिक कौशल की अपेक्षा थी, अपितु राजनेतृत्व की दूरदर्शिता भी ज़रूरी थी। उपकुलपति के रूप में एक सफल व्यक्तित्व के लिए राधाकृष्णन का प्रशिक्षण प्रशंसनीय था, और यह आसान कार्य नहीं था। यह पद लोगों के साथ अच्छे संपर्क की योग्यता की माँग करता है। विश्व-साहित्य तथा दर्शन में उनकी व्यापक विद्वत्ता तथा आधुनिकतावादी दृष्टि से परिपूर्ण उनकी सार्वभौम दृष्टि ने राज्यपाल विषयक पदों पर अभूतपूर्व सफलता दिलायी। विश्व-दर्शन तथा धर्म के एक विलक्षण दार्शनिक तथा इतिहासवेत्ता के लिए मानव-एकता पर आधारित नई विश्व-व्यवस्था में अपने सिद्धान्तों को व्यवहार में बदलने के लिए अब उन्हें अच्छा अवसर मिल गया। वे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ, जिनमें विश्व राज्य तथा सार्वभौम एकता पर उनके विचार निहित हैं, निम्नलिखित हैं 'द *हार्ट आव हिन्दुस्तान*' (भारत का हृदय), *'इण्डिया एण्ड चाइना'* (भारत और चीन), *'इज दिस पीस'* (क्या यह शान्ति है), *'ईस्ट एण्ड वेस्ट रिफ़्लेक्शन्स'* (पूर्व और पश्चिम : चिन्तन) तथा भारतीय राष्ट्रपति के रूप में उनके भाषण।

सार्वभौम एकता की कोई भी बात अपने राष्ट्र की सही समझ से शुरू होनी चाहिए। *भारत का हृदय* पुस्तक हमें हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई तथा बौद्ध धर्मों के नाम तथा प्रकृति के विषय में शिक्षित करती है। ये सभी धर्म भारत की आर्य-सम्पदा

का भवन खड़ा करते हैं। ये सभी हमारे राष्ट्र की धड़कनें हैं, जोकि सार्वभौम एकता का उत्कृष्ट उदाहरण हैं : "सभी धर्मों का भारत स्वागत करता है, यह चिन्तन की मेघाच्छादित ऊँचाइयों से अनुभव करता है कि सर्वोच्च शिखर पर आध्यात्मिक परिदृश्य एक जैसा है, यद्यपि घाटियों के माध्यम से रास्ते अलग-अलग हैं।" हिन्दू धर्म स्वयं धर्म पर आधारित है, जो कि जीवन की आचार शास्त्रीय (नीतिपरक) योजना से कहीं अधिक है।

इस्लाम से घनिष्ठता स्थापित करते हुए राधाकृष्णन देखते हैं कि भारत भूमि पर इस धर्म के सृजनात्मक विकास की वड़ी संभावनाएँ हैं। इस्लाम के अधिकांश प्रारम्भिक विचार वेदान्त के निरपेक्षतावादी विवेचन में देखे जा सकते हैं तथा सूफ़ी मत भविष्य में काफ़ी ऊँचाई तक उठ सकता है :

> "एक विस्तृत आध्यात्मिक पृष्ठभूमि के साथ भारतीय मुसलमान का यह विशेषाधिकार है कि वह इस्लाम की आस्था का विवेचन उसके सच्चे, ऊँचे तथा आदर्श अर्थ में करे, ताकि इसे आज अज्ञानी रूढ़िवादियों, राजनीतिक षड्यंत्रकारियों तथा धार्मिक हठधर्मियों द्वारा प्रचारित पन्थ से अलग किया जा सके। यदि भारतीय मुसलमान अपनो पैतृक (दाय) परम्परा को अपनी लब्ध आस्था के साथ जोड़ता है तथा नये और पुराने के वीच एक सम्वाद स्थापित करता है, तो वह इस्लामी सत्य के उन उपेक्षित पहलुओं को सामने लाने पर ज़ोर देगा, जिन्होंने सभ्यता और संस्कृति को सचमुच प्रोत्साहित किया तथा जीवन में मरणशील विश्व के उन कम महत्त्वपूर्ण व्योरों को सामने लाया जो ऐतिहासिक दुर्घटनाओं के परिणामस्वरूप पूर्णतः अतिरंजित हो जाने वाले थे।"

राधाकृष्णन ने हिन्दू चिन्तन तथा ईसाई सिद्धान्त के वीच भी समानताएँ देखीं। वेदान्त 'पारत्व' (इन्द्रियातीत प्रकृति) तथा 'सुलभ्य' से पूर्ण परम की प्रकृति वतलाता है। ईसाइयत में भी ऐसी प्रतीकात्मकता देखी जा सकती है :

> "त्रित्व का सिद्धान्त न केवल ईश्वर की एकता में जीसस का स्थान सुनिश्चित करना चाहता है, अपितु इसने *ओल्ड टेस्टामेंट* में ईश्वर के विषय में एकांगी विचार को भी सुधारने की कोशिश की है। ईश्वर न केवल सर्वोच्च में स्थित अनन्त सत्ता है, वल्कि वह प्रेम का एक सर्वव्यापी, अन्तर्यामी सिद्धान्त भी है। ईश्वर अनुभवातीत तथा संसार से परे नहीं है, वल्कि असीम, अनन्त प्रेम है, जोकि अपने आपको जगत् में अनवरत गति से उड़ेल रहा है।'
>
> अपने राष्ट्र की समृद्ध आर्य-सम्पदा से परिचित होने के बाद व्यक्ति को अपने

पड़ोस की प्रबुद्ध जागरूकता की ओर अग्रसर होना चाहिए। राधाकृष्णन चीन की प्राचीन संस्कृति के प्रशंसक थे और उन्हें आशा थी कि भारत और चीन घनिष्ठ मित्र होंगे। वे चीन जैसे बड़े देश की राजनीतिक व्यवस्था से बहुत अप्रसन्न थे। लोकतांत्रिक प्रणाली के अथक अधिवक्ता ने चीन में स्वतंत्र चुनाव प्रणाली लागू करने की इच्छा व्यक्त की। ऐसे वक्तव्य माओ को खुश नहीं कर सकते थे। लेकिन उस समय तक राधाकृष्णन की प्रतिष्ठा इतनी अधिक हो चुकी थी कि 1957 की उनकी चीन यात्रा सौहार्दपूर्ण रही। उन्हें वहाँ पर्याप्त सम्मान मिला तथा उन्होंने भी कृषि तथा उद्योग के क्षेत्र में चीनी सरकार की विलक्षण उपलब्धियों के लिए चीन की प्रशंसा की। संयुक्त राष्ट्रसंघ में चीन की अनुपस्थिति को लेकर उन्होंने अपनी असहमति ज़ाहिर कर दी। और भी, उन्होंने देखा कि वैचारिक प्रगति के नाम पर एक महान संस्कृति का अनेक तरीक़ों से विनाश किया जा रहा है। अतीत के एक सच्चे प्रेमी के रूप में वे चुप न रह सके और अपने मेज़बानों से कहा कि इस संस्कृति का विकास कई हज़ार वर्षों में हुआ है और अब इसे हमेशा के लिए नष्ट नहीं किया जाना चाहिए।

जो कुछ उन्होंने चीन में सचमुच घटते हुए देखा था, उसके लिए अपनी ओर से कुछ करने के लिए उन्होंने परिवर्तित निर्णयों का सहारा लिया। चीनी आक्रमण की समस्या के सम्बन्ध में उन्होंने नेहरू के दृष्टिकोण को निर्देशित किया। वे जानते थे कि राजनीतिक अधीनता से अधिक चीन की नीतियाँ भारत की उस गौरवमयी सभ्यता को नष्ट करने में सहायक होंगी, जिसे भारत ने वैयक्तिक आत्मा की श्रेष्ठता पर पोषित किया है। परन्तु उन्होंने सोचा कि प्रतिरोध का जवाब घृणा से नहीं दिया जाना चाहिए। उन्होंने अन्धकार के उन दिनों में चीनी लोगों के ख़िलाफ़ किसी भी प्रकार के घृणा-अभियान का विरोध किया।

राधाकृष्णन के राजनेतृत्व की दूसरी उल्लेखनीय सफलता सोवियत संघ में राजदूत के रूप में थी। वे निश्चित रूप से मार्क्सवादी दर्शन के प्रति सहानुभूति नहीं रखते थे, क्योंकि वह नास्तिकतावादी था और मनुष्य की निजता को कोई महत्त्व नहीं देता था। चीन की भाँति यहाँ भी वे अपने भाषणों तथा लेखों में निर्भीक रहे। राधाकृष्णन सूचित करते हैं कि एक बार वे मास्को में खुले रूप में साम्यवाद विरोधी लेखों का संकलन *द गॉड दैट फ़ेल्ड* (ईश्वर जो कि फेल हो गया) बाँट रहे थे। परन्तु रूसियों ने उनका स्पष्टतः स्वागत किया, क्योंकि वे सुनने तथा बहस करने के लिए सदैव तैयार रहते थे। वास्तव में, राधाकृष्णन के लिए स्टालिन का सहज निमंत्रण एक इतिहास बन गया है। राधाकृष्णन की वाक्पटुता तथा सुस्पष्ट तार्किकता ने स्टालिन पर गहरा प्रभाव डाला और उसने कह ही दिया कि "यह व्यक्ति रक्तस्रावी हृदय से बोलता है, किसी सामान्य राजदूत की तरह नहीं।"

राधाकृष्णन की राजनीतिमत्ता का रहस्य उनकी सार्वभौम दृष्टि में था। पाश्चात्य शिक्षा ने उनका पश्चिमीकरण नहीं किया और वे अब भी भारतीय पोशाक पहनते थे। जिस तरह से वे अपने देश की विरासत की प्रशंसा करते थे। (इसकी कमियों को भी देखते हुए), उसी तरह वे किसी भी देश की प्रशंसा कर सकते थे, किन्तु साथ ही उसकी ग़लतियों एवं कमज़ोरियों को भी रेखांकित कर देते थे। सार्वभौमिक उपचार पाने के लिए उनके व्यक्तिगत विचारों ने उनकी उत्सुकता में कभी हस्तक्षेप नहीं किया। उन प्रारम्भिक दिनों में एक प्रोफ़ेसर के रूप में, *द हार्ट आव हिन्दुस्तान* (भारत का हृदय) जैसी पुस्तक लिखी, राधाकृष्णन ने मानव जाति की एकता की हिमायत की। एक राजनेता के रूप में भी वे पूर्व तथा पश्चिम को एक-साथ लाना चाहते थे, ताकि सार्वभौमिक शान्ति हो सके। धार्मिक व्यक्ति को फलने-फूलने का यह अच्छा अवसर था कि जो कि विकास की अगली सीढ़ी पर चढ़ने के लिए मानवता की सहायता कर सकता था। परस्पर प्रतिस्पर्द्धा के आधुनिक युग में सार्वभौम सदिच्छा के विषय में बोलना एक स्वाँग लग सकता है, परन्तु क्या कोई ऐसी भी चीज़ है जिसे आस्थापूर्वक प्राप्त न किया जा सके? भारत के राष्ट्रपति का पद-भार ग्रहण करते हुए उन्होंने कहा :

> "हम जीवन से प्यार करते हैं और जीवन की पवित्रता में हमें विश्वास करना चाहिए। यह विश्वास हमें मानसिक बाधाओं तथा नैतिक जड़ता पर विजय पाने की शक्ति देगा। हमें राष्ट्रीय सुरक्षा को विश्व की सुरक्षा से ऊपर नहीं मानना चाहिए। परम सम्प्रभु राष्ट्र-राज्य पुराना पड़ चुका है। सभी राष्ट्रीय हितों के पीछे कुछ अजेय मूल्य तथा आकांक्षाएँ हैं, जोकि मानव जाति की सामान्य सम्पत्ति हैं। आदर्शों तथा आकांक्षाओं के समूह के आधार पर हम एक विश्व-समाज निर्मित कर सकते हैं, जोकि राष्ट्रीय मूल्यों की सुरक्षा तथा विश्व की सुरक्षा का परिरक्षण करेगा। यदि नैतिक आवेग हमारे व्यावहारिक प्रतिमान—राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय, प्रतिमान को निर्धारित नहीं करते तो भविष्य के लिए संकट (अवश्य) रहेगा।"

क्या यह प्रदीप्त आदर्शवाद उच्च पद प्राप्ति के व्यापक सुखाभास से उत्पन्न हुआ था? निश्चित रूप से नहीं। यहाँ तक कि भारी दबाव के समय भी उन्होंने दृढ़तापूर्वक कहा कि चीनी आक्रमण जिसने भारत के लिए दोपहर में भी अंधकार कर दिया, का मतलब केवल यही है कि हमें अपनी रक्षण शक्ति सुदृढ़ करनी चाहिए! यह भी कि परमाणु आयुध से खेलते हुए पड़ोसी देश का भय हमें इस प्रकार वाध्य न करे कि आयुध-स्पर्द्धा के लिए हम आयुध-संग्रहण की भयावह प्रवृत्ति में फँस जाएँ। 1967 में गणतंत्र दिवस की पूर्व सन्ध्या पर राष्ट्र को सम्बोधित

करते हुए उन्होंने कहा :

> "हाल ही में एक फ़िल्म दिखाई गई थी, जो कि आधुनिक युद्ध का चित्रण कर रही थी। बच्चे दर्द से चीख़ते हुए, परमाणुविक कोंध से अन्धे हो गये थे, महिलाएँ अपने बच्चों के मृत शरीर पर करुण-क्रन्दन कर रही थीं, और विकृत हो गये चेहरों वाली लाशें इधर-उधर पड़ी थीं। इसके प्रतिरोध में इसी तरह की प्रतिक्रिया से हम क्या प्राप्त करेंगे? आधुनिक युद्ध पीड़ित हमारी अक्षम्य उदासीनता तथा आपराधिक मौन सहमति के लिए जोकि आज हमारे नाम पर किया जाता है, हमें चीख़ते हुए कोसेंगे। इन विनाशक एवं भयानक आयुधों से बड़ी और क्या भूल हो सकती हे, जो हमारी अपनी ही कायरता, अदूरदर्शिता, स्वार्थपरता तथा क्लान्ति के विरुद्ध हमारी रक्षा कर सके? हमें यह जानना चाहिए कि मानव के प्रति मानव की अमानवीयता का एकमात्र इलाज साहस, ओजस्विता तथा विश्वास है।"

राधाकृष्णन को राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर बार-बार बोलना था और उन्हें अपने विचारों की अभिव्यक्ति तथा पुनराभिव्यक्ति करनी थी तथापि वे आवृत्तिमूलक कभी नहीं रहे। अंग्रेज़ी भाषा पर उनका सुस्पष्ट आधिपत्य तथा संस्कृत एवं महान विचारकों के उद्धरण से वे श्रोताओं को मुग्ध तथा प्रेरित किये रहते थे। बीच-बीच में परिहास का स्पर्श भी राधाकृष्णन की मौखिक विद्वत्ता को बढ़ाता था। उनकी उपस्थिति इस बात का आश्वासन थी कि भारत अपने सौभाग्य की ओर विश्वगुरु के रूप में गतिशील है। जैसा कि आर. वेंकटरमण कहते हैं :

> "राष्ट्रपति राधाकृष्णन हमारी राष्ट्रीय चेतना के मन्दिर में एक 'ध्वजस्तम्भ' (ध्वजास्तंभम्) थे। हमारे बुरे दिनों में वे एक ईमानदार, देदीप्यमान तथा निष्पक्ष व्यक्ति थे तथा हमें उच्चतर उद्देश्य के लिए प्रेरित करते थे। हमारी राष्ट्रीय आकांक्षाओं के लिए वे एक भावपूर्ण प्रस्तावना थे तथा हमारे सामूहिक चिन्तन के लिए एक पुष्पिका। जहाँ और जब भी उन्होंने देश में भ्रमण किया, वहीं एक कृष्ण-अर्जुन संवाद आयोजित कर दिया और लोगों को भयमुक्त करने, सन्देहमुक्त करने तथा विश्वास और आशा जगाने का प्रयत्न किया। और जब उन्होंने राष्ट्रपति के रूप में अन्य राष्ट्रों की यात्राएँ कीं, जैसे कि सोवियत संघ, अमेरिका, इंग्लैण्ड आदि, तो वहाँ उन्हें एक मनीषी एवं राजनेता के रूप में स्वीकार किया गया। आधुनिक युग में उन्हें प्लेटो के आदर्श दार्शनिक राजा अथवा राजर्षि के समान समझा जाता था, न कि एक देश के मात्र राष्ट्रपति के रूप में। "

10

सार्वभौमिक व्यक्ति

आधुनिक भारतीय पुनर्जागरण के एक मुक्त छोर पर पुष्पित राधाकृष्णन की महिमा भारत की राष्ट्रीय विरासत के लिए व्यापक महत्त्व रखती थी। वे एक जागरूक देशभक्त थे, परन्तु देशभक्त होने के टाइप से भिन्न जोकि सही या ग़लत अर्थ में 'मेरा देश'—'मेरा देश' की घोषणा करता है। उन्होंने हमारी कमज़ोरियों पर पर्दा डालने अथवा ग़लतियों को प्रोत्साहित करने की कभी कोशिश नहीं की। परन्तु राष्ट्र की आर्य सम्पदा के विषय में बोलते हुए वे अक्षरशः उद्दीप्त हुए। सार्वभौम की कोई भी वस्तु आर्य सम्पदा की समस्त संस्कृति के बाहर नहीं थी। ऐसी सात्विक देशभक्ति ही उनके लेखों की आधार श्रुति थी और यह अतीत तथा वर्तमान के महान भारतीयों के साथ उनके स्पष्टीकरण में प्रकट हुई। उनका *इण्डियन फिलॉसॉफ़ी* (भारतीय दर्शन) मिल्टन की महत्ता को प्रतिध्वनित करता है, जब वे स्वयं को भुला देने वाले महान चिन्तकों की सूची प्रस्तुत करते हैं, जैसा कि औपनिषदिक युग को व्यक्त करता हुआ उनका यह उद्धरण :

> "अपने व्यक्तिगत मामलों में वे इतने लापरवाह तथा सत्य के प्रहार हेतु सन्नद्ध थे कि उन्होंने अपने विचारों का प्रवर्तन वैदिक काल के प्रतिष्ठित देवताओं तथा नायकों पर किया। प्रजापति तथा इन्द्र, नारद तथा सनत्कुमार को तर्कशास्त्री के रूप में चित्रित किया गया है। जब उपनिषद् काल के महान चिन्तकों का इतिहास उनके महत्त्वपूर्ण योगदान की चर्चा के साथ लिखा जाएगा तो पौराणिक को छोड़कर निम्नलिखित नाम सामने आयेंगे : महिदास ऐतरेय, रैक्व, शाण्डिल्य, सत्यकाम जाबाल, जैवाली, उद्दालक, श्वेतकेतु, भारद्वाज, गार्गायन, प्रतर्दन, बालाकी, अजातशत्रु, वरुण, याज्ञवल्क्य, गार्गी तथा मैत्रेयी।"

यह भी उल्लेखनीय है कि ब्रिटिश अकादेमी में भाषण के लिए राधाकृष्णन ने गौतम बुद्ध को विषय बनाया था। उनके अनुसार, अतीत का कोई भी व्यक्तित्व बुद्ध की बराबरी नहीं कर सकता, जिन्होंने दुख से अभिभूत व्यक्ति के उच्चादर्श के लिए त्याग और विद्रोह, राजत्व तथा भिक्षुत्व को एक साथ जोड़ दिया या समायोजित

कर दिया। बुद्ध का समय जीसस क्राइस्ट से 500 वर्ष पूर्व है, और उन्होंने ईसाइयत् की पूर्णता का सर्वोतम उदाहरण प्रस्तुत किया। एक शांत गरिमामय भारतीय होते हुए तथा एक ऐसे राष्ट्र से सम्बन्धित होते हुए, जोकि सात्विक और आध्यात्मिक था, बुद्ध के प्रत्येक शब्द से इस बात की झलक मिलती है। राधाकृष्णन बुद्ध के परिनिर्वाण के विषय मे लिखते हैं :

"अपने परम प्रिय अनुयायी आनन्द के सहित वैभव सम्पन्न वैशाली नगर को छोड़कर उन्होने निकटवर्ती पहाड़ी पर आसन जमाया, जोकि अनेक पूजा-स्थलों तथा आश्रयगृहों से सज्ज दृश्य की सृष्टि कर रही थी। उन्होंने आनन्द से कहा : 'चित्रम् जम्बूद्वीपम, मनोरमम् जीविताम् मनुष्यानाम्'– भारतवर्ष रंगपूर्ण तथा समृद्ध है। यहाँ के लोगों का जीवन प्रेमिल तथा मोहक है। आज वस्तुतः मैं तुमसे कहता हूँ, ओ भिक्षुओ! सभी वस्तु नश्वर हैं; अपने निर्णय गम्भीरतापूर्वक करो–ये उनके अन्तिम शब्द थे। उनकी आत्मा गूढ़ तन्मयता में निमग्न हो गयी और जब उन्होंने उस स्तर को प्राप्त कर लिया जहाँ पर सभी विचार, सभी धारणाएँ विलुप्त हो जाती हैं, तो उन्होंने महापरिनिर्वाण में प्रवेश किया।"

स्वयं को सार्वभौमिक व्यक्ति की अवधारणा के प्रति समर्पित करते हुए राधाकृष्णन स्वाभाविक रूप से अपने समसामयिकों के प्रति आकर्षित हुए, जो संकीर्ण राष्ट्रवाद से बँधे हुए नहीं थे। उन्होंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर, महात्मा गाँधी तथा जवाहरलाल नेहरू को श्रद्धापूर्वक देखा। 1913 में जब रविन्द्रनाथ को नोबल पुरस्कार से सम्मानित किया गया तो राधाकृष्णन ने कवि के दर्शन पर एक पुस्तक तैयार की, जिसे उन्होंने हिन्दू वेदान्त की परम्परा में पाया। यद्यपि उन्हें बाङ्ला का ज्ञान नहीं था और अंग्रेज़ी अनुवादों से ही काम चलाना पड़ता था, फिर भी वे कवि के दार्शनिक पक्ष की गहराई की पूर्णतः थाह लगा सकते थे, जोकि व्यक्ति को परम के साथ जोड़ने वाली अन्तर्दृष्टि की महत्ता का संकेत करती है।

राधाकृष्णन के लिए जो यह मानते थे कि इस विखंडित विश्व में धार्मिक व्यक्ति का धर्मनिरपेक्षवाद, जो पारस्परिक विश्वास-वार्ता पर आधारित था तथा जनता के भजन-कीर्तन कार्यक्रमों के माध्यम से उनके आदर्श को ग्रहण करता था, अविश्वास के मरुस्थल में मानवजाति के लिए एक शुभ संकेत था। राधाकृष्णन गाँधी के असहयोग आन्दोलन से बहुत प्रभावित थे। वह उन्हें पूर्णतः एक आध्यात्मिक आन्दोलन प्रतीत होता था। फ़रवरी 1922 में, जब आन्दोलन अपनी अवयस्कता में ही था, राधाकृष्णन द्वारा लिखित विचारों के आधार पर सर्वपल्ली गोपाल कहते है :

गाँधीजी स्व-शासन प्राप्त करने के लिए मात्र यांत्रिक उपकरणों पर आधारित रहने वाले सांसारिक राजनीतिज्ञ नहीं थे। उन्होंने राजनीति में धर्म को समाहित किया तथा दुनिया के देशों को प्रेम के उच्चादर्श में बदलना चाहा। भारत में इस

आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य धार्मिक ही था। किसी को मात्र यह नहीं कहना चाहिए कि गाँधी सफल होंगे, बल्कि कम-से-कम आत्मा के उपासकों को इस पवित्र प्रयोग की सफलता की प्रार्थना करनी चाहिए जो कि न केवल भारत के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है, बल्कि विश्व के भविष्य के लिए भी।

यह श्रद्धा समय गुज़रने के साथ-साथ और भी गहन होती गयी। गाँधी पर लिखी गयी राधाकृष्णन की कृति 1939 में प्रकाशित हुई शीर्षक था : *महात्मा गाँधी एस्से एण्ड रिफ़्लेक्शन्स (महात्मा गाँधी : जीवन एवं कार्य–निबन्ध तथा चिन्तन)* वे सक्रिय रूप में उल्लसित थे कि आधुनिक राजनितिक चिन्तन का नास्तिकतावाद गाँधीजी द्वारा नकार दिया गया है। धार्मिक आत्मा अब किसी सार्वजनिक सेवक के लिए अभिशाप नहीं रह गयी थी :

> "गाँधीजी के लिए मानव-गतिविधि से अलग कोई धर्म नहीं है। यद्यपि भारत की वर्तमान परिस्थितियों में गाँधी जी एक राजनीतिक क्रान्तिकारी की तरह लगते थे, जिसने कि तानाशाही अथवा गुलामी को मौन स्वीकृति देना अस्वीकार कर दिया था, परन्तु वे क्रान्तिकारिता की उस असमाधेय शैली से बहुत दूर रहते थे, जो अपनी कल्पना में मनुष्यों को अप्राकृतिक तथा अमानवीय कामों की ओर ठेलती है। अनुभव की अग्नि-परीक्षा में वे निरे राजनीतिज्ञ सुधारक, दार्शनिक अथवा नैतिकतावादी नहीं ठहरते, बल्कि बहुत कुछ इन सभी का सम्मिश्रण और मूलतः सर्वोच्च तथा अधिकांश मानवीय गुणों से भरपूर धार्मिक व्यक्ति, तथा अपनी निजी सीमाओं की चेतना तथा दुर्जेय हर्षानुभूति के द्वारा अत्यधिक प्रेमपात्र व्यक्ति ठहरते हैं।"

गाँधी कोई रहस्यवादी नहीं थे और न ही वे सपनों तथा माया-मोह के शिकार थे, बल्कि उस अंतर्यामी प्रभु के विषय में सजग थे, जोकि समस्त सृष्टि में व्याप्त है। गाँधीजी के प्रभु (ईश्वर) का अस्तित्व वैज्ञानिक विधि से सिद्ध नहीं किया जा सकता। परन्तु राजनीति के लज्जास्पद, विनाशक वातावरण में ऐसे दैवी व्यक्ति का अस्तित्व अपने आप में ईश्वरीय अस्तित्व का सुस्पष्ट प्रमाण है। और न ही गाँधी एकमात्र उदाहरण, आकस्मिक घटना या विलक्षण विपणन हैं, बल्कि वे तो भारतीय आध्यात्मिक परम्परा की स्वर्णिम डोर की एक कड़ी हैं, जो कि सार्वभौमिक व्यक्ति के आदर्श को सदैव समर्थन देती थी।

गाँधीजी धार्मिक सहिष्णुता की भारतीय आत्मा का भी प्रतिनिधित्व करते थे। इस्लाम और ईसाई धर्म ने भी उन्हें प्रभावित किया, यद्यपि उनके जीवन की निर्देशक शक्ति स्वाभाविक रूप से हिन्दू धर्म से मिलती थी। गाँधीजी सारांशतः आध्यात्मिकता के सर्वोच्च स्तर से सम्बद्ध हैं, क्योंकि उन्होंने इस कार्य की तैयारी अपने रचनात्मक

कार्य के निचले स्तर से ही शुरू कर दी थी :

> "गाँधीजी मानवता के सर्वोत्तम सेवकों में से एक हैं। तात्कालिक विनाश की कठिनाइयों का सामना करते हुए वे दूरस्थ भविष्य की सम्भावनाओं से दिलासा नहीं प्राप्त करते थे। उन्होंने बुराइयों के उपचार तथा ख़तरों को रोकने के लिए अत्यधिक सही और सम्भव साधनों द्वारा दृढ़ धारणाओं वाले व्यक्तियों की शक्ति के साथ स्वयं को जोड़ा। लोकतंत्र उनके लिए कोई मुहावरे की चीज़ नहीं, बल्कि एक सामाजिक वास्तविकता है। दक्षिण अफ्रीका तथा भारत में उनकी सभी सार्वजनिक गतिविधियों को तभी समझा जा सकता है, जब हम उनके सामान्य व्यक्ति प्रेम को समझें।"

अधिकांश आधुनिक शिक्षकों के विपरीत, जो कि एक सामान्य सदेच्छा, पारम्परिक नैतिकता अथवा अस्पष्ट सौन्दर्यपरक आकर्षण के जीवन को महत्त्व देते है, गाँधीजी ने पवित्रता के अनुकूल शक्ति तथा कड़ी सच्चाई की ओर संकेत किया। यह पथ-प्रदर्शक अपनी उत्फुल्लता में बहुत मानवीय था। *भगवद्गीता* के अपने अनुवाद को जब गाँधीजी को समर्पित करना चाहा तो गाँधीजी ने पूरी गम्भीरता से कहा : "मैं तुम्हारा अर्जुन हूँ, तुम हमारे कृष्ण हो।"

जब गाँधीजी कि हत्या हुई तो राधाकृष्णन शोक से धराशायी हो गये थे। वह ऐसे विरले व्यक्ति का निधन था, जिसने सार्वभौमिक व्यक्ति की अवधारणा को अच्छी तरह समझा था। सोल कॉलेज, ऑक्सफ़ोर्ड में एक स्मारक भाषण में राधाकृष्णन ने एक बार पुनः महात्मा गाँधी में उस धार्मिक व्यक्ति को आरोपित किया जिसने जैसा कहा वैसा ही किया। वे एक ऐसे नायक थे, जिनके हृदय और होठों में दुनिया से जाते हुए भी राम का ही नाम रहा। निश्चय ही गाँधी सार्वभौमिक व्यक्ति के विकास में अगली सीढ़ी के एक प्रतीक थे :

> "गाँधीजी का यह विश्वास था कि अपनी गहनतम जड़ों तथा सर्वोच्च आकांक्षाओं में विश्व एक है। वे जानते थे कि ऐतिहासिक मानवता का उद्देश्य एक विश्व-सभ्यता, एक विश्व-संस्कृति तथा एक विश्व समुदाय विकसित करना है। हम इस दुनिया के दुख से तभी मुक्ति पा सकते हैं, जब हम मनुष्यों के हृदय में गहरे जमे अँधेरे को बाहर निकाल देंगे और उसके स्थान पर समझ तथा सहिष्णुता को स्थापित करेंगे। गाँधी का सवेदनशील तथा उत्पीड़ित हृदय उस विश्व की घोषणा करता है, जिसे संयुक्त राष्ट्रसंघ सृजित करना चाहता है। लुप्तप्राय अतीत का यह अकेला प्रतीक उस नये विश्व का अग्रदूत भी है जो उत्पन्न होने के लिए संघर्ष कर रहा है। वे भावी मनुष्य के अन्तःकरण का प्रतिनिधित्व करते हैं।"

जवाहरलाल नेहरू को एक 'धार्मिक व्यक्ति' नहीं कहा जा सकता, परन्तु राधाकृष्णन ने आत्मा के सच्चे धर्म तथा निरर्थक मतवाद में उलझे पन्थवादी धर्म के बीच सदैव अन्तर किया। अतः वे आध्यात्मिक होने के लिए नेहरू पर भी श्रद्धा रख सकते थे। वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखते हुए वे यथार्थ के आनुभविक मार्ग में रुचि लेते थे। गाँधी की तरह नेहरू भी भावी मानवता के अग्रदूत थे। "यह सर्वाधिक प्रिय तथा उदारचेता व्यक्ति आने वाले युग की एक 'पेशगी' है, ऐसे युग की जो विश्व-मानवता के लिए विश्व अनुकम्पा से परिपूर्ण होगा।"

वास्तव में उस महान व्यक्ति के प्रति उसके जीते जी राधाकृष्णन इसलिए प्रतिक्रिया दे सके, क्योंकि वह भी उसी विश्व-दृष्टि की उमंग से क्रियाशील था। अनेक चिन्तकों द्वारा उनके जीवन काल में ही उन्हें प्राप्त प्रशस्तियों से कई शानदार ग्रन्थ तैयार किये जा सकते हैं। सी.ई.एम. जोड के लिए वे एक 'सेतु निर्माणक' थे, जो कि उन अपारदर्शी पर्दो को गिरा देगा, जिन्होंने एक भू-भाग को दूसरे भू-भाग से विभाजित कर रखा है तथा संस्कृतियों को बाँट रखा है। आधुनिक युग एक एकीकृत, अंगभूत सामाजिक सत्य (यथार्थता) के प्रति प्रेरित है और यह तभी सम्भव हो सकता है जब हम मानव जाति की मूल आध्यात्मिक एकता को स्वीकार करें। राधाकृष्णन ऐसी एकता के उद्‌भट वक्ता थे। अतीत और वर्तमान का सामञ्जस्य बनाना चाहिए तथा समस्त विश्व को भ्रातृत्व-भाव को अपनाना चाहिए। राधाकृष्णन एकता की संकट घंटी को सँवारते हुए कभी थके नहीं। इसीलिए जार्ज पी. कांगर ने राधाकृष्णन की यात्राओं को आकर्षण तथा प्रशंसा की दृष्टि से देखा है :

> "बनारस और ऑक्सफ़ोर्ड में उनकी अनोखी दोहरी नियुक्ति एक बुनकर की तरह थी, जिन्हें समझदारी का धागा लेकर इधर-उधर पूर्व तथा पश्चिम जाना पड़ता था ताकि सभ्यता का ताना-बाना खड़ा किया जाए। हम उन्हें सुनते हैं और उसकी अनुगूँज चीन, दक्षिण अफ्रीका, शिकागो तथा मैक्सिको शहर में सुनाई देती है। यूनेस्को में वे सहज ही एक चमकती हुई प्रतिमा थे। बाद में अनेक प्राचीन, किन्तु उत्सुक युवा मातृ-देश ने उन्हें अपने सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण राजदूतों में से एक घोषित किया। अपवादस्वरूप मार्क्स आरेलियस को छोड़कर दार्शनिक कभी राजा नहीं होंगे, परन्तु कभी-कभी दार्शनिक भी अपने समसामयिकों में ऐसा प्रभाव उत्पन्न करते हैं, जिससे कोई भी राजा ईर्ष्या कर सकता है।"

राजदूत पद के बाद उन्होंने उपराष्ट्रपति का पद सँभाला। जब वे भारत के राष्ट्रपति बने तो अपने आप एक नए युग में आ गए, परन्तु सार्वभौमिक व्यक्ति होने के नाते अपने उल्लेखनीय मौखिक सन्देश के कार्य से मुक्ति कहाँ थी? मैल्कम

आदिशेषय्या प्रमाण जुटाते हैं कि राष्ट्रपति के रूप में राधाकृष्णन ने संस्कार सदस, हज़रत ख़्वाजा निजामुद्दीन का उर्स, गुरु नानकदेव का जन्मदिन, वौद्धों की विश्व फ़ेलोशिप, पोप का स्वागत, विश्व हिन्दू धर्म तथा अन्य महत्त्वपूर्ण धार्मिक एवं दार्शनिक अवसरों पर व्याख्यान दिये। मैल्कम के शब्द हैं :

> "इसी तरह सभी राष्ट्रों के मैत्री-दर्शन ने उन्हें भारत तथा विदेशों में 102 व्याख्यान देने को प्रेरित किया, जैसे वल्गेरिया, सूडान, सउदी अरव, संयुक्त अरव अमीरात, अमेरिका, सोवियत संघ आदि। राष्ट्रपति के रूप में उनके सर्वाधिक प्रगतिशील व्याख्यान उस समय हुए जव वे शैक्षिक तथा सांस्कृतिक विषयों पर वोल रहे थे और सन्देश को समाहित कर रहे थे कि सभी विषयों का एक ही लक्ष्य है—विश्वविद्यालय; जो सार्वभौम का स्पर्श है, व्यक्ति की पवित्रता है, ज्ञान, विवेक, समर्पण तथा विश्वास का विवेक आधारित गुण के रूप में।"

प्रख्यात विद्वान को उसके साठवें जन्मदिन पर जव एक पुस्तक *राधाकृष्णन : कम्परेटिव स्टडीज़ इन फ़िलोसॉफी (राधाकृष्णन दर्शन में तुलनात्मक अध्ययन)* प्रस्तुत की गई तो उस पुस्तक के संपादकों—डी. एम. दत्ता तथा पी. टी. राजू ने उन्हें वस्तुतः पूर्व एवं पश्चिम के वीच एक 'सम्पूर्ण-अधिकारी' के रूप में चित्रित किया तथा विश्व चिन्तकों के दृष्टिकोण में परिवर्तन प्रवण कोशिशों के लिए उनकी प्रशंसा की। अंगभूत विचारों के अथक प्रसार के लि् उन्हें धन्यवाद; पाश्चात्य विद्वानों को निर्देशित करने की आवश्यकता में पूर्व को मान्यता मिली तथा पश्चिम ने यह अनुभव किया कि यदि पूर्व की आध्यात्मिकता का सही ज्ञान प्राप्त हो तो 'प्रचण्ड' प्रतियोगिता पर विजय पाने का रास्ता निकल सकता है तथा आन्तरिक एवं वाह्य शान्ति प्राप्त की जा सकती है, जिसका कि अभी तक अभाव है।'

यहाँ उस प्रशस्ति-पत्र का भी उल्लेख करना उपयुक्त होगा, जो भारतीय विद्या भवन के कुलपति के. एम. मुंशी ने उन्हें 'ब्रह्मविद्या-भास्कर' की उपाधि प्रदान करते हुए दिया था। इसमें उनके उस सद्भावनापूर्ण सामञ्जस्य के लिये उल्लेखनीय योगदान की चर्चा है, जो पूर्व-पश्चिम की संस्कृतियों में सर्वाधिक श्रेष्ठ, आदर्श तथा प्रेरक है तथा जाति, देश और समय सीमाओं को लाँघते हुए एक नये आध्यात्मिक दृष्टिकोण की प्रस्तुति है। वास्तव में जव भी राधाकृष्णन की चर्चा आती है, उनका यह पक्ष तत्काल हमारी दृष्टि में आ जाता है। (पॉल्स मार ग्रेगोरियस ने विश्व एकता के उनके विचार को उपनिषदों के इस उद्धरण से पता चलता है :)

> "ईश्वर के साथ भौतिक (तात्त्विक) एकता का तात्पर्य है ईश्वर के माध्यम से एक-दूसरे के साथ एकता। उच्च जागरूकता की अनुभूति में हम विश्व

को नहीं भूलते, जोकि विलक्षण रूप से एक हिस्सा प्रतीत होता है। हम लोग प्रादेशिकतावाद से एक ऐसे परिदृश्य में डाल दिये गये हैं, जहाँ हम विश्व से कुछ वृहत्तर, व्यापकतर, गहनतर तथा अधिक पूर्णता का अनुभव करने लगे हैं या उसके विषय में जान गये हैं।"

पॉल्स ग्रेगोरियस राधाकृष्णन को 'विश्वमानव' के रूप में मानते है। तथापि राधाकृष्णन की सार्वभौमिक दृष्टि विविध संस्कृतियों के अपने देशज विकास के मार्ग में आड़े नहीं आयी। चीन की तरह बलात् सांस्कृतिक एकीकरण उनके विचार में कहीं नहीं है। उन्होंने सम्पूर्ण विश्व के विभिन्न राष्ट्रों को शान्ति तथा परस्पर समृद्धि में शामिल महान परिवार के रूप में देखा। यदि राष्ट्र अपने राजनीतिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में लोकतांत्रिक होना चाहते हैं तो वे इसे स्वाभाविक रूप से शान्तिपूर्वक प्राप्त कर सकेंगे। राधाकृष्णन असम्भव आदर्शवादी यूटोपियन स्वप्नद्रष्टा नहीं थे। वे अन्तर्राष्ट्रीय राजनेतृत्व के एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंग थे तथा यह जानते थे कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनय के तनावों में आदर्श की किस तरह निरंतर दुर्गति हो रही है। परन्तु उनमें विपुल विश्वास था और उनका यह विश्वास परमाणविक राक्षस के मुकाबले भी अडिग रहा।

मार्गरिट चटर्जी ने राधाकृष्णन के भावी व्यक्ति की 'अंगभूत चेतना' तथा 'विश्व आत्मा' की सम्भावनाओं से सम्बन्धित उनके विचारों पर श्रीअरविन्द के प्रभाव को खोज निकाला है :

"प्लेटो से लेकर श्रीअरविन्द तक चिन्तन की एक निश्चित धारा का पता लगाया जा सकता है, जिसके अनुसार संस्थाएँ एक आन्तरिक प्रतिपक्षी (काउंटर पार्ट) का प्रतिबिम्ब हैं। इस प्रतिपक्षी को जन्म देना है तथा इसका पालन-पोषण करना है। राधाकृष्णन ने सदैव आदर्शवाद तथा सामान्य समझ के बीच एक सतर्क संतुलन क़ायम रखा। इस विवेक के कारण वे विश्व-आत्मा के सिद्धान्त का आह्वान करने तथा यह कहने में सक्षम थे कि 'एक नये प्रकार का राजनय संगठित करना है, जोकि युद्ध अथवा युद्ध की धमकी पर आधारित न हो।' मानव हृदयों में परिवर्तन तथा अपने उपयुक्त संस्थात्मक उपकरण के साथ एक नयी शान्ति स्थापक शैली की आवश्यकता थी। यहाँ श्रीअरविन्द की प्रतिध्वनि क़ायम है, परन्तु संघर्ष समाधान की व्यावहारिक अपेक्षाओं के साथ अपने स्वर में बदल गयी है।"

एक सार्वभौमिक व्यक्तित्व, एक व्यावहारिक आदर्शवादी और इन सबके बावजूद कुछ अपरिहार्य समस्याओं में भी, जिनसे भारत पीड़ित हुआ, यह देश लोकतांत्रिक

बना रहा तथा राष्ट्रों के शिष्टाचार में भी निर्देशक स्वरूप इसका उच्च स्थान बना रहा, तो इसका बहुत बड़ा श्रेय राधाकृष्णन को जाता है जोकि 1947 में भारतीय स्वाधीनता के प्रारम्भिक निर्णायक वर्षों के दौरान रूस में हमारे राजदूत तथा हमारे उपराष्ट्रपति और राष्ट्रपति के रूप में हमारे साथ रहे।

11

शैली ही व्यक्ति है

प्रायः पूर्ण तकनीकी के इस युग में सर्वाधिक कुतूहलपूर्ण घटनाओं में से एक घटना राधाकृष्णन के व्यापक श्रोता-समूहों की थी, जो कि दर्शनशास्त्र पर उनके भाषणों को सुनने के लिए एकत्र होते थे। क्या दर्शन रुचिकर हो सकता है? हाँ दर्शनशास्त्र को भी उन्होंने विद्यार्थियों के लिए उत्साहित करने वाला विषय बना दिया। किसी विषय को हमेशा सुगम बनाना और लोकोत्तर से उतार कर उसे मनोरंजक बना देना किसी के लिए भी आसान नहीं होता, यदि आत्मपरक अनुशासनों के साथ स्वतंत्रताएँ भी ध्यान में रखी जायें, जैसे कि धर्म तथा दर्शन। राधाकृष्णन एक वहुत अच्छे कक्षा-अध्यापक थे, जिन्होंने उनमें नियमित व्याख्यान दिये, टिप्पणियों तथा विवरणों को निर्देशित किया तथा उत्तर-पत्रों को सुधारा। परन्तु वे इससे कुछ अधिक भी थे। उन्होने स्वयं को ज्ञान के विस्फोट के सामने रखा और इसीलिए उनकी टिप्पणियाँ सुब्बा राव के अनुसार,'उबाऊ तथा घिसी-पिटी नहीं होती थीं वे मस्तिष्क एवं स्मृति में अलिखित (अप्रमाणित या पहले देखी-सुनी न गई) रूप से आती थीं; वे अधुनातन तात्कालिक भाषणों मे कौशल भरी होती थीं, जोकि स्वयं उन्हें भी लगातार मौलिक तथा ताज़ा बनाती थीं।'

डी. अंजनेयुलु ने दर्शनशास्त्र के एक शिक्षक रूप में उनकी सफलता का आंशिक विश्लेषण किया है। राधाकृष्णन ने तुलनात्मक पद्धति का उस समय व्यापक प्रयोग किया, जब इसका प्रयोग प्रायः नगण्य था। इस पद्धति ने एक तो विषय को समझना आसान वनाया और दूसरे व्यक्ति के ज्ञान क्षितिजों को व्यापक किया। राधाकृष्णन ने इसी तरह अन्तःअनुशासनीय दृष्टिकोण अपनाया। धर्म और दर्शन को साहित्य, इतिहास, राजनीति तथा विज्ञान के माध्यम से परिभाषित किया गया :

> "शास्त्रीय पृष्ठभूमि के साथ समसामयिक सम्वेदनशीलता ने अतीत के साथ वर्तमान को समायोजित करने के सजग प्रयास में राधाकृष्णन की स्थिति को मज़बूत किया। इसने उन्हें एक रचनात्मक व्याख्याकार के रूप में स्वयं उनके द्वारा चुनी गई भूमिका में पूर्णतः उपयुक्त ठहराया। वे ऐसे स्वामिभक्त इतिहासकार से बिलकुल भिन्न थे, जोकि पवित्र तथा परम्परागत ग्रन्थों की

संकीर्ण तथा शुष्क समीक्षा करता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर का दर्शन तथा महात्मा गाँधी का व्यक्तित्व शैक्षिक चिन्तन की दुनिया से पृथक् नहीं था। एक गतिशील सामाजिक-सांस्कृतिक परम्परा के नवीनतम तथा परिष्कृत प्रतिफल हमारे अतीत में वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, बुद्ध, महावीर तया कवीर तक जा रहे हैं।"

एक लेखक तथा वक्ता के रूप में अंग्रेज़ी भाषा में राधाकृष्णन की प्रभुता उनके समस्त जीवन में काम आयी। यदि उन्होंने भारतीय श्रोताओं को अंग्रेज़ी भाषा की अपनी मधुरता से मुग्ध किया तो अपने आंग्ल श्रोताओं को दुरूह दार्शनिक समस्याओं को समझाने के लिये भाषा के सृजनात्मक प्रयोग से प्रेरित किया। उनके सभी व्याख्यान बौद्धिकता भरी चमकदार सूक्तियों से मण्डित रहते थे। श्रोता यह अच्छी तरह जानते थे कि यह कोई जादूगर नहीं है जो उन्हें निरन्तर धोखा देने अथवा रहस्यमय बनाने आया है। उनके सामने एक निर्देशक था जोकि ज्ञात से अज्ञात की ओर जाने में उनकी अगुवाई कर रहा था। मॉनचेस्टर तथा लन्दन में हिब्बर्ट व्याख्यानों के लिए राधाकृष्णन के स्वागत को लेकर सर्वपल्ली गोपाल लिखते हैं :

"किसी दार्शनिक विषय पर सार्वजनिक भाषण सुनने के लिए इन दोनों स्थानों पर प्रथम महायुद्ध के बाद सर्वाधिक भीड़ देखने को मिली। और सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उपस्थित श्रोताओं में अधिकांश युवक-युवतियाँ थीं, जो अपनी कक्षाओं से आये थे ; अधिकारी थे और कारीगर भी थे। वे एक गम्भीर धार्मिक व्यक्ति को सुन रहे थे, जोकि एक ऐसी पीढ़ी को धर्म-दर्शन समझा रहा था जो अपने धर्म तथा गम्भीर धार्मिक जीवन का बहुत बड़ा भाग खो चुकी थी। लन्दन में दिये गए अन्तिम भाषण के बाद श्रोता वक्ता से हाथ मिलाने के लिये एक पंक्ति में खड़े हुए और अधिकांशतः उन्होंने जिन्हें वे नहीं जानते थे, राधाकृष्णन को उनकी अभिव्यक्ति के लिये यह धन्यवाद पत्र लिखा—'आपके रूप में एक महान स्वप्न साकार हुआ है, पूर्व अपना निजी सन्देश हमारी अपनी भाषा में लेकर आ रहा है, जो कि पश्चिमी चिन्तन के बारे में सब कुछ जानता है।'"

यही वह सन्दर्भ है, जिसमें राधाकृष्णन का भारतीय साहित्य के एक निर्माता के स्वरूप अभिवादन करना चाहिए। यद्यपि वे एक वक्ता के रूप में आज हमारे बीच नहीं हैं, किन्तु उनके लेख हमारे लिए सृजनात्मक ऊर्जा के स्रोत हैं। सरल एवं प्रवाहपूर्ण अंग्रेज़ी वाक्यों के साथ संस्कृत शब्दों की भावपूर्ण झड़ी स्पष्ट तथा निर्मल चिन्तनपूर्ण उनके लेखों को गुणज्ञ का प्रकाश बनाती है।

यहाँ पर वाग्मिता तो है, पर नाटकीयता नहीं। राधाकृष्णन सामान्य समझ के शब्दों का प्रयोग स्वीकारते हैं तथा आलंकारिता को पूर्णतः नकार देते हैं, ठीक

उसी तरह जैसे कोई तकनीकीविद् काम कर रहा हो और प्रभावकारी उपकरणों का समाकलन कर रहा हो। प्राच्य चिन्तन को पाश्चात्य मस्तिष्क के लिए ग्रहणशील बनाने के लिए यह एक विवेकपूर्ण प्रयत्न था, क्योंकि प्राच्य चिन्तन को डरावना रहस्यवाद मानकर पश्चिम में आलोचित किया गया था तथा वैदिक परम्परा को बर्बर सर्वेश्वरवाद मानकर अस्वीकृत कर दिया गया था। जब हम उनके *'रिलीजन एण्ड सोसाइटी'* तथा *'धर्म और समाज'* को पढ़ते हैं तो राधाकृष्णन की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता सुप्रीम (ईश्वरीय सत्ता) की अगोचर कल्पना के विषय में दिखती है, जो प्रख्यात् चिदम्बरम् मन्दिर को सम्बोधित है :

> "नटराज के रूप में शिव को समर्पित चिदम्बरम् मन्दिर के पवित्र गर्भगृह में न तो कोई प्रतिमा प्रतिकृति है और न ही अभिलेख। पूजा किसी देवता की सीमित सत्ता को निर्देशित नहीं है बल्कि समस्त ब्रह्माण्डीय आत्मा को समाहित करने वाली सत्ता के प्रति है, जो रूपहीन है, फिर भी सभी रूपों को धारण करता है, उसमें ऐसा प्रकाश है जो सभी प्रकाशों का स्रोत है। एक अँधेरे कमरे में अनावृत भित्ति पर एक माला टँगी है, दृश्य तथा स्पृश्य जो अदृश्य और अस्पृश्य के गले में झूल रही है।"

पश्चिमी लोगों के लिए, हिन्दू धर्म की ग़लत व्याख्याओं के सम्बन्ध में राधाकृष्णन ने संतुलित वाक्यों में पौराणिकी का स्पर्श करते और संस्कृत शब्दों को मिलाते हुए स्पष्टीकरण दिया। भारत कोई अविवेकपूर्ण मूर्ति-पूजा का स्थान नहीं है, बल्कि संस्कृति है जो सर्वोच्च सत्य को जानती है और कल्पना तथा इसी तरह अकल्पना के सहारे सामान्य लोगों की चेतना में उतर जाने की क्षमता रखती है। एक ऊँची-लम्बी देहयष्टि वाले उत्सुक किन्तु शान्त चेहरे, चमकीली आँखों और सफ़ेद पगड़ीदार व्यक्ति के मुख से निकलते शब्द श्रोताओं को एक निश्चिन्तता के साथ बरबस आकृष्ट कर लेते हैं।

राधाकृष्णन कोई धर्म प्रचारक नहीं हैं और न उनके लेखों में स्वप्निल एवं कल्पित उड़ानें हैं। न तो शैक्षिक लफ़्फ़ाजी है और न ही अपरिष्कृत विद्याडम्बर। राधाकृष्णन के लिए शैली ही व्यक्ति थी, या है। उन्होंने वही कहा और लिखा, जोकि वह थे : मूर्तिमान विद्वत्ता तथा सामान्य समझ के व्यक्ति। एक ऐसा व्यक्ति, जो चिन्तन और विशलेषण कर सकता है तथा स्वयं को राधाकृष्णन के श्रोता-पाठकों को बौद्धिक स्तर पर ले आता है, वह उन्हें अपने उच्च स्तर तक उठाते हुए एक आदर्श शिक्षक, एक प्रभावशाली सज्जन तथा अनुकूल सम्वेदना से परिपूर्ण व्यक्ति समझेगा।

राधाकृष्णन की पुस्तकों को यों ही कहीं से भी खोलिये। पहली चीज़ जो हमें आकर्षित करती है, वह है उनमें व्यक्त विराट विद्वत्ता। जीवन-भर उन्होंने एक

भुक्खड़ लालची पाठक बने रहकर और विलक्षण स्मरणशक्ति की अनुकम्पा से इच्छित उद्धरणों को मुक्त भाव से बाँटा। यह उनके प्रथम अध्ययन का ही परिणाम है। क्या यह उस व्यक्ति के लिए सम्भव था, जिसके पास एक प्रशासक, राजदूत तथा राष्ट्रपति के रूप में उत्तरदायित्वपूर्ण कार्यसूची थी? फिर भी, राधाकृष्णन अक्षरशः अपनी पुस्तकों के साथ जिए। भारतीय राजदूत के रूप में राधाकृष्णन के स्वागत की तैयारी कर रहे स्टालिन ने कहा था कि मैं उस राजदूत से मिलना पसन्द करूँगा जो अपना सारा समय उत्कृष्ट लेखन में व्यतीत करता है।"

वास्तव में, पुस्तकें राधाकृष्णन के लिए एक दूसरी प्रकृति ही बन गयीं थीं। *'इण्डियन फ़िलासॉफ़ी' (भारतीय दर्शन)* जिसने उन्हें मात्र पैंतीस वर्ष की उम्र में ही अविस्मरणीय प्रसिद्धि दिलायी, कठिन लेखकीय परिश्रम का प्रमाण है। इस पुस्तक ने उन्हें स्थायी ख्याति तक पहुँचाया। उनकी कृतियाँ उद्धरणों से अलंकृत हैं, प्रत्येक पृष्ठ पर विचारोत्तेजक उद्धरणों वाली टिप्पणियाँ हैं, जोकि हमारी समझ के क्षितिज को बढ़ाती हैं। चाहे सावधानी और योजनाबद्ध तरीके से लिखा गया वृहत ग्रन्थ हो अथवा एक संक्षिप्त समीक्षा; सभी कुछ राधाकृष्णन के लिए एक जैसा कार्य था। यों भी एक विद्वान को अपने प्रेरक आह्वान के लिए पूरी तैयारी से सामने आना चाहिए। वे इस्लाम पर सर अहमद हुसैन की टिप्पणियों की मात्र एक समीक्षा लिखते हुए भी ए. ई., अमीर अली, जलालुद्दीन रूमी, दारा शिकोह, आगा ख़ान, बाइबल, सर अब्दुर्रहीम, सर चार्ल्स टाउनशें, ले हन्ट, अल-हुजीवीरी, चैतन्य, कबीर और नानक के लिए जगह छोड़ देते हैं।

परन्तु राधाकृष्णन की सुस्पष्ट चिन्तन शक्ति हमें वशवर्ती बना लेती है और हम स्वयं को कभी भी परिपूर्ण अनुभव नहीं करते। संक्षेप में, इस्लामी सिद्धान्तों के बारे में वे हमें अच्छी जानकारी देते हैं और क़ुरान से उदारतापूर्वक उद्धरण देते हुए तुलनात्मक रूप से एक उपयोगी सुझाव सामने रखते हैं। वह पूरक उद्धरण है :

> "दूसरों के विश्वासों को न जानना अन्याय और त्रुटियों को पैदा करता है। असंस्कारित अशिक्षित मुसलमानों के कुछ तरीक़ों ने इस्लामी आदर्शों के प्रति हिन्दुओं की आँखों को बन्द कर दिया है हालाँकि इस्लाम के लिए हिन्दू धर्म की सहानुभूतिपूर्ण समझदारी से सीखने के लिए बहुत कुछ है, लेकिन हिन्दू धर्म के लिए भी इस्लाम से सीखने को बहुत कुछ है। हमें अपनी संस्थाओं को भी लोकतांत्रिक बनाना सीखना चाहिए तथा यह भी सीखना चाहिए कि ऐसी विवादग्रस्त अविवेकपूर्ण रूढ़ियों और दमनकारी संस्थाओं को किस तरह त्यागा जाए, जिनके दबाव में मनुष्य की आत्मा पूर्णतः कुचल दी जाती है। इस्लाम तथा हिन्दू धर्म दोनों अपने सर्वोत्तम प्रयत्न में उस सत्य धर्म की शिक्षा देते हैं, जो कहता है कि

सत्य तथा पवित्रता में ईश्वर की सेवा करो तथा जीवन के समस्त क्षेत्रों में उसके नियमों का श्रद्धापूर्वक पालन करो।"

राधाकृष्णन की शैली उनके जीवन में शीघ्र ही परिपक्व हो गयी थी। *'इण्डियन फ़िलॉसॉफ़ी'* (भारतीय दर्शन) का प्रथम भाग तव प्रकाशित हुआ, जब वे 35 साल के थे। एक युवा विद्यार्थी स्कॉलर के लिए यह एक भारी उत्तरदायित्व था, किन्तु इसकी प्रस्तावना में किसी प्रकार की अनिश्चितता अथवा खेद प्रकाश नहीं है :

"वैदिक कवियों (उक्तियाँ) के सहज कथन, उपनिषदों का आश्चर्यजनक अर्थगाम्भीर्य, बौद्धों के चमत्कारिक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, तथा शंकर की विस्मयकारी व्यवस्था आदि सांस्कृतिक विचार दृष्टि से बिलकुल उसी तरह रोचक तथा संकेतक हैं, जिस तरह प्लेटो और अरस्तू अथवा कांट और हीगेल की व्यवस्थाएँ (सिद्धान्त) सिद्धान्त ; लेकिन तभी जबकि हम अतीत के प्रति असम्मान अथवा विदेशी दोष-दृष्टि से मुक्त होकर केवल सच्ची वैज्ञानिक विचार दृष्टि से उनका अध्ययन करें। भारतीय दर्शन की विशिष्ट पारिभाषिक शब्दावली, जो कि अंग्रेज़ी में आसानी से व्यक्त नहीं की जा सकती, बौद्धिक परिदृश्य की सुस्पष्ट विलक्षणता की माँग करती है। यदि बाहरी कठिनाइयाँ हल कर ली जाएँ, तो हम मानव हृदय की सादृश्य धड़कनों को महसूस करते हैं, क्योंकि मनुष्य न तो भारतीय है और न यूरोपीय।"

भारतीय दार्शनिक-पारिभाषिक शब्दावली को बोधगम्य अंग्रेज़ी में प्रस्तुत करना सरल नहीं था। सौभाग्य से, राधाकृष्णन के पास इच्छाशक्ति थी और रास्ता स्वयं खुल गया। फिर भी प्रारम्भ में यह आसान नहीं था। सर्वपल्ली गोपाल लिखते है :

"म्यूरहेड, जिसने कि *भारतीय दर्शन* के दो खण्डों को अद्वितीय 'दर्शन पुस्तकालय' में शामिल करने की योजना बनायी थी, और जो इस दर्शन शृंखला का स्वयं भी एक सम्पादक था, क्योंकि संस्कृत उद्धरणों एवं विशेषक चिह्नों का रोमन लिपि में लिप्यन्तरण बड़ा कठिन था। इसलिए उसने अन्तिम निर्णय प्रकाशकों -- जार्ज अलेन तथा अनविन पर छोड़ दिया। प्रकाशन प्रमुख, स्टेनले अनविन इस पुस्तक की सम्भावनाएँ देखकर अत्यन्त चकित था और उसने स्वीकार किया कि कुछ वर्षों में पुस्तक की धीमी बिक्री भी प्रारम्भिक भारी लागत को शीघ्र पूरा कर लेगी।"

शैलीगत रूप से पूर्व तथा पश्चिम और अतीत की ओर इस ग्रन्थ की गति एक अद्‌भुत बात थी। राधाकृष्णन पश्चिम से एक उपयुक्त 'समानान्तर' प्रस्तुत करते थे, और पूर्व जब अपने अलंघ्य रहस्य की ओर वापस आता दिखाई देता

था तो यह 'समानान्तर' पाठक को सतर्क अध्ययन में पीछे खींचता था। उदाहरणार्थ, 'निसत्ता' अनिसत्ता या 'निःजीव' (आत्मविहीनता) के रूप में सार्वभौम (यूनिवर्स ब्रह्माण्ड) के सन्दर्भ का तात्पर्य यह है कि संसार एक अवास्तविकता है, परन्तु अस्तित्वविहीन नहीं है तो फिर हमें बुद्ध की प्रारम्भिक शिक्षाओं के विषय में क्या करना चाहिए, जो कि विश्व का एक आत्मपरक विवेचन प्रस्तुत करती हैं? अतः राधाकृष्णन कहते हैं :

> "पहला अधिक वर्कलेवादी है, जबकि दूसरा अधिक कांटवादी। हम कह सकते हैं कि बाद वाले का विवेचन शापेनहॉवर की उपकल्पनाओं तक ले जाता है कि तात्त्विक सिद्धान्त जीने की इच्छा है, और वस्तु तथा व्यक्ति जीने के लिए एक इच्छा के विभिन्न विषयीकरण हैं। कभी-कभी ऐसा भी प्रस्तावित किया जाता है कि हमारी अपूर्णता अर्थात् अज्ञानता एक अविरल सार्वभौमिक ब्रह्माण्डीय प्रक्रिया को अलग-अलग व्यक्तियों और वस्तुओं के रूप में तोड़ती है।"

राधाकृष्णन अपनी इस शैली में लगभग आधी शती तक लगातार काम करते रहे। और इसमें वे कभी भी उपहार के पात्र नहीं बने। आन्तरिक उत्साह-ज्वाला, जिसने उनकी प्रारम्भिक कृतियों, जैसे *'द हिन्दू व्यू आव लाइफ़'* (*जीवन की हिन्दू विचार दृष्टि*), *'द हार्ट आव हिन्दुस्तान'* (*भारत का हृदय*) को प्रदीप्त किया, वही स्थिरता एवं सोद्देश्य उज्ज्वलता 1960 के दशक से सम्बन्धित कृतियों, जैसे कि *'रिलीजन इन ए चेंजिंग वर्ल्ड'* (*बदलते विश्व में धर्म*) में भी प्रदीप्त हुई। अविच्छिन्न प्रयत्न, व्यापक अध्ययन तथा स्वस्थ बौद्धिक कार्य तब भी जारी रहे, जब वे गतिमान घटनाओं के धुँधलके में थे और सार्वजनिक जीवन की बेड़ियों में जकड़े हुए थे। इसके बावजूद वह शैली हमें आज भी प्रेरित करती है, क्योंकि वह व्यक्ति जिसने क़लम थामी, एक उत्कृष्ट प्राणी था।

निष्कर्षतः, प्रोफ़ेसर के. आर. श्रीनिवास आयंगर के शब्दों में :

> "स्मृति और उद्यम, उत्सुकता एवं कार्य की समझ, अनुकूलन तथा किसी भी तरह की चुनौतियों का सामना करने वाली तत्परता—सभी गुणों का एक प्रभावोत्पादक समुच्चय तैयार करते हैं। यहाँ ये सभी अकेले उस परिघटना को परिभाषित नहीं कर सकते, जो कि प्रोफ़ेसर राधाकृष्णन हैं। बिना आत्म-कोष आन्तरिक सन्तुलन और गुप्त ऊर्जा के अन्य सभी निधियाँ पर्याप्त नहीं गिनी जा सकतीं। और आत्मा जिसने कि हमारे प्राचीन ऋषियों और आचार्यों को संचालित तथा समृद्ध किया, प्रोफ़ेसर राधाकृष्णन के लिए अपरिचित नहीं है, और वह मात्र यही है जोकि आधी सदी में व्याप्त उनके कार्यक्षेत्र की महिमा को प्रकट करने की क्षमता रखती है।"

सन्दर्भ ग्रन्थ

डॉ॰ राधाकृष्णन की रचनाएँ

द इथिक्स ऑफ़ द वेदान्त एण्ड इट्स मेटाफ़िज़िकल प्रीजम्पशंस (1908)
द फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ रवीन्द्रनाथ टैगोर (1918)
द रेन ऑफ़ रिलिजन इन कंटपररी फ़िलॉसफ़ी (1920)
इंडियन फिलॉसफ़ी, दो भाग (1923, 1927)
द हिन्दू व्यू ऑफ़ लाइफ़ (1927)
द रिलिजन वी नीड (1928)
कल्कि अथवा द फ़्यूचर ऑफ़ सिविलाइज़ेशन (1929)
द हार्ट ऑफ़ हिन्दुस्तान (1932)
एन आइडियलिस्ट व्यू ऑफ़ लाइफ़ (1932)
ईस्ट एण्ड वेस्ट इन रिलिजन (1933)
ईस्टर्न रिलिजंस एण्ड वेस्टर्न थॉट (1939)
एजुकेशन, पॉलिटिक्स एण्ड थॉट (1944)
रिलिजन एण्ड सोसाइटी (1947)
द भगवद्गीता (1948)
द धम्मपद (1950)
द प्रिंसिपल उपनिषद्स (1953)
रिकवरी ऑफ़ फ़ेथ (1955)
ईस्ट एण्ड वेस्ट (1955)
द ब्रह्मसूत्र (1961)
रिलिजन इन ए चेंजिंग वर्ल्ड (1967)
राधाकृष्णन रीडर : एन एंथोलॉजी (1969)

डॉ॰ राधाकृष्णन पर अन्य लेखकों की पुस्तकें :

श्रीअरविन्द, द फाउण्डेशंस ऑफ़ इंडियन कल्चर (1953)
सर्वपल्ली गोपाल राधाकृष्णन : ए वायोग्राफ़ी (1989)
के. आर. श्रीनिवास आयंगर, इंडियन राइटिंग इन इंगलिश (1983) और ए न्यू डील फॉर आवर यूनिवर्सिटीज़ (1951)
वप्पूलूरि कालिदास, द राधाकृष्णन नम्बर (1962)
के. एस. मूर्ति एण्ड ए. वोहरा, राधाकृष्णन : हिज लाइफ़ एण्ड टाइम्स (1989)
जी. पार्थसारथी एण्ड डी.पी. चट्टोपाध्याय (संपा.) राधाकृष्णन : सेंटनरी वाल्यूम (1989)

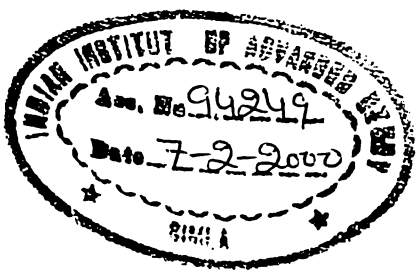

विद्यार्थी, जीवनी-लेखक, दार्शनिक, शिक्षाशास्त्री तथा राजनेता **डॉ. राधाकृष्णन** विश्व-इतिहास के उन इने-गिने मनीषियों में से थे, जो जीविका से दार्शनिक होते हुए भी एक महान राष्ट्र के प्रमुख के रूप में उभरे। उन्होंने भारतीय दर्शन और संस्कृति पर बहुत-सी पाण्डित्यपूर्ण रचनाएँ कीं। यह उनके अथक प्रयत्न का ही फल था कि पूर्व पश्चिमी विज्ञान की विशेषज्ञता प्राप्त कर सका और पश्चिम ने भारतीय दर्शन को 'आन्तरिक शान्ति' के मार्ग स्वरूप स्वीकार करने की आवश्यकता महसूस की। अंग्रेज़ी भाषा तथा संस्कृत की असाधारण योग्यता तथा सुविधा ने उनके लेखन को गुणधर्मी प्रकाश में परिवर्तित कर दिया; और इस कारण शिक्षित भारतीयों का एक बड़ा वर्ग, जो कि अभिजात विद्वत्ता के क्षेत्र में कोई औपचारिक आधार नहीं रखता था, अपनी समृद्ध दार्शनिक विरासत से परिचित हुआ।

शिक्षा के प्रति **डॉ. राधाकृष्णन** की आजीवन प्रतिबद्धता भारतीय शैक्षिक समुदाय को लगातार प्रभावित करती रही। विश्वविद्यालय की स्वायत्तता के सच्चे समर्थक रहते हुए उन्होंने विभिन्न दीक्षान्त भाषणों में इन संस्थाओं को बार-बार प्रोत्साहित किया कि वे सामाजिक रूपान्तरण की लक्ष्य-प्राप्ति के लिए भारत के समृद्ध सांस्कृतिक अतीत का एक साधन की तरह उपयोग करें।

डॉ. राधाकृष्णन ने प्रख्यात साहित्यिक संस्थाओं जैसे पैन ऑल इंडिया सेंटर तथा साहित्य अकादेमी, जिसके कि 1964 में वे अध्यक्ष चुने गये, का बौद्धिक नेतृत्व भी स्वीकार किया। 1931 में उन्हें 'नाइटहुड' की उपाधि से विभूषित एवं 1953 में उन्हें लन्दन की रॉयल सोसायटी ऑफ लिटरेचर की तथा 1968 में साहित्य अकादेमी की फ़ेलोशिप प्रदान की गयी। एक राजनेता के रूप में उन्होंने सोवियत संघ में भारत के राजदूत, उपराष्ट्रपति तथा बाद में भारतीय गणतंत्र के राष्ट्रपति का पद-भार ग्रहण किया।

इस विनिबन्ध (मोनोग्राफ़) की लेखिका **प्रेमा नन्दकुमार** (जन्म 1939) तमिल और अंग्रेज़ी में लेखन-आलोचना का कार्य करती हैं। इनकी कई पुस्तकें तथा बहुत-से लेख प्रकाशित हैं।

इस विनिबन्ध के अनुवादक **श्री जव** (दिल्ली विश्व.) से सम्बद्ध हैं। अध्याप कई संस्थाओं के लिए अनुवाद कार्य

Library IIAS, Shimla
H 922.94 R 118 N
00094249

ISBN 81-260-0435-5

मूल्य : पच्चीस रुपये